श्री भर्तृहरिविरचितम्

नीतिशतकम्

[अन्वय; संस्कृत-व्याख्या; हिन्दी तथा अंग्रेजी अनुवाद; संस्कृत भावार्थ; समास, व्युत्पत्ति आदि व्याकरणात्मक टिप्पणी; एवं विस्तृत भूमिका से संवलित]

सम्पादक
श्री तारिणीश झा
व्याकरणवेदान्ताचार्य

प्रकाशक
रामनारायणलाल विजयकुमार
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
२, कटरा रोड, इलाहाबाद-२११००२

तृतीय संस्करण] [मूल्य १०.०० रुपये

प्रकाशक

रामनारायणलाल विजयकुमार
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
२, कटरा रोड, इलाहाबाद-२११००२

सन् १९७५

मुद्रक :
लीडर प्रेस
इलाहाबाद

विषय-सूची

श्लोक-सूची

(अकारादिक्रम से)

भूमिका

१—मुक्तक काव्य और भर्तृहरि के शतक

अग्निपुराण में मुक्तक का लक्षण इस प्रकार दिया है—'मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमं सताम्' अर्थात् मुक्तक वह काव्य है जिसका प्रत्येक श्लोक स्वतन्त्र रूप से अपने सर्वाङ्गीण अर्थ-प्रकाशन में पूर्ण समर्थ होकर सहृदयों के हृदय में चमत्कार का आधायक होता है। इसके एक पद्य का दूसरे पद्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता। भर्तृहरि के तीनों शतकों में केवल प्रकरण की दृष्टि से शृङ्गारिक पद्य शृङ्गारशतक में, वैराग्यविषयक वैराग्यशतक में तथा नीति-विषयक नीतिशतक में रखे गये हैं। केवल प्रकरणगत एकता का ही इनमें परस्पर सम्बन्ध है, अन्यथा इनका प्रत्येक पद्य अपने में स्वतः पूर्ण है और अकेला ही रस-चर्वणा का सामर्थ्य रखता है। यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि नीतिरत्न, नीतिप्रदीप, नीतिसार, चाणक्यनीति आदि नीतिविषयक जितने भी सूक्त्यात्मक पद्य-संग्रह हैं, उन सबमें भर्तृहरि का नीतिशतक सर्वश्रेष्ठ है।

२—मुक्तक काव्य की परम्परा

संस्कृत-साहित्य में प्रबन्ध-रचनाओं के साथ काव्य की परम्परा भी अति प्राचीन है। यह भी कहा जा सकता है कि मुक्तक काव्यों के अतिशय उत्कर्ष ने ही कवि और काव्य को प्रतिष्ठा दी है। इन मुक्तकों को सूक्तियाँ भी कहते थे। यही नहीं कि मुक्तक काव्य अलग से सुने-सुनाये जाते थे, प्रबन्ध-रचनाओं में भी उनका उपयोग किया जाता था। ऐसे पद्य-खंड एक साथ प्रबन्ध-रचना में गुम्फित होकर रचना का चमत्कार तो बढ़ाते ही थे, प्रबन्ध-रचना से अलग भी रखे जाकर वे सूक्ति रूप में श्रवण-योग्य होते थे। दण्डी (चौथी शती ई०) ने अपने काव्यादर्श में ऐसे सूक्ति-रत्नों से प्रपूर्ण प्राकृत महाकाव्य 'सेतुबन्ध' का उल्लेख किया है—

> महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
> सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥ (काव्यादर्श १।३४)

बिल्हण (११वीं शती ई०) ने अपने 'विक्रमांकदेवचरित' महाकाव्य में काव्यालोचकों को अपने सूक्तिरत्नों की कसौटी के लिए आहूत किया है—

विचारशाणोत्तलपट्टिकासु मत्सूक्तिरत्ना द्युतिमीभवन्तु

इस प्रकार यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि मुक्तक रचना करने वाले कवि तथा प्रबन्ध के रचयिता दोनों ही नीति, धर्म या व्यवहार सम्बन्धी ऐसी रचनाएँ पद्यों में करते थे, जिनको अकेले भी सभाओं में सुनाकर आनन्द लिया जा सकता था। ऐसे मुक्तक काव्यों में प्रकृति-वर्णन के वे आकर्षक चित्र भी होते थे, जिनकी छवि का अन्तर्दर्शन हमें मुग्ध कर लेता था, जैसा कि कालिदास के ऋतु-संहार में है। किन्तु ऋतु-संहार छह ऋतुओं के प्रबन्ध-क्रम में निबद्ध है, अतः उसे मुक्तक काव्य नहीं कह सकते। हाँ आनन्द उससे मुक्तक काव्य का लिया जा सकता है। अतः मुक्तक काव्य के रूप में हमें पहला नाम शतकत्रय के प्रणेता भर्तृहरि या 'अमरुशतक' के कवि अमरुक का लेना पड़ता है। उनकी रचनाएँ हमें मुक्तक के रूप में उपलब्ध होती हैं।

डा० जयशंकर त्रिपाठी के अनुसार मुक्तक काव्यों के अस्तित्व का पता इससे पूर्व भी चलता है, यद्यपि आज वे प्राप्य नहीं हैं। दण्डी ने काव्यादर्श में जिस विदग्धगोष्ठी की चर्चा की है, उसमें मुक्तक काव्य या सूक्तियाँ ही कवि पढ़ते थे। दण्डी के अनन्तर सम्राट् समुद्रगुप्त को सूक्ति-काव्यों का रचयिता उसके प्रयाग-स्तम्भ वाले लेख में बताया गया है। उसकी सूक्तियाँ आदर्श मानी जाती थीं। डा० त्रिपाठी का कहना है—"गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त (३२०–३७८ ई०) काव्य एवं संगीत-विद्या में अत्यन्त रुचि रखने वाला था। उसके प्रयाग के अभिलेख (३५० ई०) में प्रशंसापूर्वक उसे सूक्तमार्ग (सूक्ति-काव्य की रचना करने वाला) कवि कहा गया है—"सूक्त-मार्ग की जिसकी सुभाषित रचनायें पठनीय हैं और जिसका काव्य भी अपनी अच्छी सूक्तियों के कारण अन्य कवियों के कल्पना-विभव को उखाड़ देने वाला है—'अध्येयः सूक्तमार्गः कविमतिविभवोत्सारणं चापि काव्यम्'। इससे प्रकट होता है कि चौथी शताब्दी ईस्वी में सूक्ति की रचना के प्रति राजाओं का कितना आकर्षण हो गया था। सूक्तिकार होना सम्राट् के लिए गौरव की बात थी। समुद्रगुप्त के समकाल वाकाटक-सम्राटों ने भी सूक्ति-रचना में अभिरुचि ली है। 'गाथा सप्तशती' में प्रवरसेन

और सर्वसेन के नाम से प्राकृत-गाथायें संगृहीत हैं। ये नाम वाकाटक राजवंश के ही हैं। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में काव्यविद्या के अठारह अधिकरणों का उल्लेख किया है और उसमें उक्तिगर्भ के 'औक्तिक' अधिकरण का नाम लिया है। इस उल्लेख से काव्य के पर्याय में सूक्ति या उक्ति के अभिधान का संकेत मिलता है।"[१]

यही सूक्ति या उक्ति मुक्तक काव्य का पुराना इतिहास है जिसे कवियों के मुख से सुनने के लिए ही विदग्ध-गोष्ठियों की आयोजना होती थी—'विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते'। सरस्वती की उपासना कर ऐसे मुक्तक काव्यों के प्रणयन के लिए ही आशीर्वाद लिया जाता था। राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में एक श्लोक संगृहीत है, जिसमें सरस्वती को सूक्तिधेनु कहा गया है—

या दुग्धापि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम्।
हृदि नः सन्निधत्तां सा सूक्तिधेनुः सरस्वती॥

मुक्तक काव्य की रचना करने वाले ऐसे कवियों की परम्परा समान रूप से संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में चली आयी है। संस्कृत के मुक्तक काव्य-कर्त्ताओं में भर्तृहरि, अमरुक, अभिनन्द, योगेश्वर, तुंगांक के नाम विशेष-रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐसे मुक्तक काव्यों के संकलन प्राचीन काल में किये गये हैं। जिनके नाम हैं—'कवीन्द्रवचनसमुच्चय', 'सदुक्तिकर्णामृत', 'सुभाषित-मुक्तावली', 'सुभाषितावली', 'सुभाषितरत्नभाण्डागार', 'शार्ङ्गधरपद्धति'। प्राकृत मुक्तक काव्यों का संकलन हाल की 'गाथासप्तशती' में मिलता है। अपभ्रंश मुक्तक काव्यों का संकलन हेमचन्द्र की कृति एवं 'वर्णरत्नाकर' में पाया जाता है। इनके अतिरिक्त नीति, धर्म से सम्वन्वित मुक्तकों की भी बहुल रचना संस्कृत में हुई हैं। किन्तु उनको हम विशुद्ध काव्य-कोटि में नहीं ले सकते। इन मुक्तक काव्यों के प्रति आचार्यों का अत्यधिक आदर रहा है। आनन्दवर्धन, मम्मट, कुन्तक आदि ने ऐसे मुक्तकों को अपने लक्षण-ग्रन्थों में उद्धृत किया है और उनके काव्यगुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

---

१. आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन (पृ० ६६)।

३—भर्तृहरि का समय और उनका जीवन

भर्तृहरि के जीवन और समय के सम्बन्ध में निश्चित रूप से अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु एक बात निश्चित जान पड़ती है कि शतक के लेखक भर्तृहरि कालिदास और विशाखदत्त के बाद हुए। क्योंकि तन्त्राख्यायिका, अभिज्ञानशाकुन्तल एवं मुद्राराक्षस के कुछ पद्य शतकों में संकलित हो गए हैं। ये पद्य अच्छे सुभाषित होने के कारण सम्मिलित किये गए होंगे।

परन्तु दूसरी ओर यह भी ध्यान जाता है कि कहीं अभिज्ञानशाकुन्तल, मुद्राराक्षस और तन्त्राख्यायिका में उक्त पद्य भर्तृहरि के शतक से ही लिए गए हों। ऐसी स्थिति में भर्तृहरि निश्चित रूप से कालिदास के भी पहले हुए। कालिदास का समय पहली शती ई० के पूर्व प्रायः माना जाता है। अतः भर्तृहरि का समय भी वही होगा। यह भी हो सकता है कि किसी तीसरे सूत्र से उक्त दोनों स्थलों में श्लोक उद्धृत किये गये हों।

लोकोदन्त के अनुसार भर्तृहरि शकारि विक्रमादित्य के भाई थे। उनको जब राज्य और पत्नी से विराग हुआ तो अपने छोटे भाई को राज्य सौंपकर स्वयं वन में जीवन बिताने का निश्चय किया। किन्तु इस उदन्त की सत्यता प्रमाणित नहीं है।

(४—क्या वैयाकरण भर्तृहरि और शतक-रचयिता भर्तृहरि एक ही हैं?)

चीनी बौद्धयात्री इत्सिंग के अनुसार ६५१ ई० के लगभग वैयाकरण भर्तृहरि की मृत्यु हुई थी। ये वैयाकरण भर्तृहरि गृहस्थ और संन्यास दोनों आश्रमों में आये गये हैं, एवं बौद्ध थे। पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर ने इन भर्तृहरि को ही शतकों का रचयिता माना है। कुछ साम्यों के होते हुए भी हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि यही भर्तृहरि शतकों के भी प्रणेता हैं। शतकों के रचयिता भर्तृहरि निश्चित रूप से शैव थे, यह उनके मुक्तकों से स्पष्ट है। क्योंकि शिव और गंगा की स्तुति एवं प्रशंसा के श्लोक शतकों में आते हैं। यह हो सकता है कि वे पहले शैव थे, बाद में बौद्ध हो गये हों। यदि इत्सिंग के वैयाकरण भर्तृहरि और शतकों के प्रणेता भर्तृहरि को एक मान लिया जाय

वो भर्तृहरि सातवीं शती के पूर्वार्ध में विद्यमान थे अर्थात् महाकवि बाणभट्ट के समकालीन थे।

अन्य विद्वानों का मत है कि जो भी हो, वैयाकरण भर्तृहरि और कवि भर्तृहरि एक हों अथवा नहीं हों, कवि भर्तृहरि सातवीं शती ई० पूर्वार्ध के पहले ही कभी हुए हैं। भर्तृहरि कहते हैं कि इन राजाओं ने पृथ्वी को टुकड़े-टुकड़े करके बांट लिया है और अपने-अपने गौरव तथा विलास के लिए मर रहे हैं (वैराग्यशतक—श्लोक २६)। उनका यह कथन इस बात को सिद्ध करता है कि उन्होंने सम्राट् हर्ष तथा पुलकेशी द्वितीय का साम्राज्य नहीं देखा था, अन्यथा वे ऐसा नहीं कहते। दूसरी ओर वैयाकरण भर्तृहरि की मृत्यु ६५१ ई० में हुई, सम्राट् हर्ष की मृत्यु के ३—४ वर्ष बाद। इसलिए उन्होंने हर्ष के साम्राज्य का सुशासन देखा था। ऐसी स्थिति में वैयाकरण भर्तृहरि शतकों के रचनाकार भर्तृहरि नहीं हो सकते।

(५—भर्तृहरि का युग)

भर्तृहरि के वैराग्यशतक से इस बात के संकेत मिलते हैं कि उस समय देश अनेक राज्यों में बँटा था। राजा लोग विलास में प्रमत्त थे। विद्वानों का आदर उनकी राजसभा में नहीं था। पिशुन और वेश्यायें उनके यहाँ पूजित होते थे। कवि और विद्वान् भी ऐसे राजाओं की चापलूसी में निमग्न थे। भर्तृहरि को चारों ओर से समाज आत्महीन दिखाई पड़ रहा था। अतः उन्होंने तत्कालीन राजाओं के असामाजिक आचरण की भर्त्सना की है। मनीषी, विद्या के आराधक और समर्थ बौद्धिक लोगों की दासता-प्रवृत्ति की आलोचना की है और समाज को जागरण के लिए उद्बोधित किया है। एक जगह वे कहते हैं—

न नटा न विटा न च गायना
न परद्रोहनिबद्धबुद्धयः।
नृपसद्मनि नाम के वयं
कुचभारानमिता न योषितः॥ (वैराग्यशतक २७)

"अर्थात् 'स्वांग रचकर रिझाने वाले तो हम हैं नहीं, न ही काम-प्रसंग की बातों में विट हैं और न गीत गाने वाले गायक हैं। दूसरों के द्रोह का हमें

व्यसन नहीं है और न ही दूसरों की चुगली करके राजा को प्रसन्न करने की बुद्धि हम में है और न बल खाती तरुणी रमणी हैं। तब इन विशेषताओं से रहित हम कौन हैं जो राजा की सभा में प्रवेश पा सकेंगे।"

राजाओं के अतिरिक्त उनके सामने धनीमानी भी राजाओं का-सा आचरण करते थे। उनके यहाँ भी विद्वानों का स्वागत नहीं था। भर्तृहरि ने बड़ी वेदना के साथ कहा है—

अमीषां प्राणानां तुलितबिसिनीपत्रपयसां
कृते किं नास्माभिर्विगलितविवेकैर्व्यवसितम्।
यदाढ्यानामग्रे द्रविणमदनिःसंज्ञमनसां
कृतं वीतव्रीडैर्निजगुणकथापातकमपि॥ (वैराग्यशतक २६)

"अर्थात् हाय! हम कितने विवेक-शून्य हो गए हैं जो कमल-पत्र पर स्थित जल-बिन्दु के समान क्षणभंगुर जीवन के लिए धन-मद से चेतना-रहित प्रमादियों के सामने याचक बने और लज्जा छोड़कर अपनी वेदना की कथा कही (तथा अन्त में उनसे कुछ प्राप्त भी नहीं हुआ)।"

समाज की यह दशा है और पृथ्वी को राजाओं ने अनेक टुकड़ों में बाँट दिया है। ऐसे क्षुद्र और दरिद्र राजाओं के यहाँ कुछ आशा लेकर जाना अपने को अधम बनाना है—

मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः सर्वोऽप्ययं नन्वणु-
रङ्गीकृत्य स एव संयुगशतैं राज्ञां गणैर्भुज्यते।
नो दद्युर्ददतेऽथवा किमपि ते क्षुद्रा दरिद्रा भृशं
धिग्धिक्तान् पुरुषाधमान् धनकणं वाञ्छन्ति तेभ्योऽपि ये॥
(वैराग्यशतक २६)

इसलिए अपने सदृश विद्या-चिन्तकों को भर्तृहरि सलाह देते हैं कि विद्या और ज्ञान के उत्थान का मार्ग अब इन राजाओं का मुख देखने से प्रशस्त नहीं होगा। हमें स्वयं अपने को देखना होगा। इन मदान्ध राजाओं से अपना आत्म-बोध ही समाज के कल्याण की रक्षा करेगा। इस आत्मबोध के लिए वृद्धावस्था की प्रतीक्षा भी नहीं करनी चाहिए। यह आज ही अपेक्षित है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ।। (वैराग्यशतक २८)

अर्थात् 'हे युवा विद्वान् ! जब तक शरीर पूर्ण स्वस्थ है, वृद्धावस्था अभी दूर है, इन्द्रियों की शक्ति अभी कुण्ठित नही हुई है, आयु क्षीण नहीं हुई है, तब तक ही आत्मा का श्रेय प्राप्त करने के लिए सारे प्रयत्न कर लें ।"

इन उद्धरणों से भर्तृहरि के युग की झांकी हमारे सामने प्रस्तुत हो जाती है। उनके वैराग्यशतक के छन्दों में युग का प्रतिबिम्ब है । अतः ऐसा अनुमान होता है कि भर्तृहरि के समय में देश में शासन विशृंखल था, देश में अनेक छोटे-छोटे राजाओं का शासन था । देश में ऐसी स्थिति गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद हर्षवर्धन के पूर्व थी । अतः भर्तृहरि का भी वही समय होना चाहिए। अथवा विक्रम की प्रथम शताब्दी के बाद तथा भारशिवनागों के साम्राज्य के पूर्व जब विदेशी कुषाणों ने देश में राज्य स्थापित किया, ऐसी स्थिति हो सकती है, और भर्तृहरि उस युग में हो सकते हैं ।

निश्चित रूप से भर्तृहरि तब हुए जब राजाओं में विलास की प्रवृत्ति ही प्रधान थी । वे विद्वानों और मनीषियों का स्वागत नहीं करते थे । भर्तृहरि ने राजाओं के इस जीवन को, जिसे महान् उपलब्धि समझा जाता था, कुछ ईर्ष्या की दृष्टि से भी देखा है और उस पर कुछ व्यंग्य भी किया है । वे कहते हैं कि यदि जीवन को ये सुखोपभोग प्राप्त हैं तो ठीक है, नहीं तो निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करो—

अग्रे गीतं सरसकवयः पार्श्वतो दाक्षिणात्याः
पृष्ठे लीलावलयरणितं चामरग्राहिणीनाम् ।
यद्यस्त्येवं कुरु भवरसास्वादने लम्पटत्वं
नोचेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पे समाधौ ।। (वैराग्यशतक ६२)

नीतिशतक की उक्ति से ऐसा मालूम पड़ता है कि राजा लोग अकर्मण्य हो गए थे, और उनकी सेवा तथा उनके राज्य में रहना दुःखदायी थे । क्योंकि उनमें

शासन करने की क्षमता नहीं रह गई थी। न उनमें यथार्थ में दान था, न भोग था, न मित्र-संरक्षण था—

आज्ञा कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां
दानं भोगो मित्रसंरक्षणं च।
येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः
कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण॥ (नीतिशतक ४०)

समाज और राज्यतंत्र के ऐसे विशृंखल युग में भर्तृहरि हुए और उनका हृदय अनीति की पीडा से भरा था। यदि वे ऐसे युग में न हुए होते तो इस प्रकार से हृदय को छूने वाली उक्तियाँ भी उनकी न होतीं। क्योंकि कवि के लिए हृदय की मार्मिक पीडा ही सरस्वती का निर्मल उद्गार बन जाती है।

भर्तृहरि का जीवन एकान्त में रमा हुआ था। शिव उनके देवता थे। पहाड़, जंगल और उसकी गुफाओं में निवास करना उनको पसन्द था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सब उनको स्वभाव से प्राप्त था, न कि केवल परिस्थिति-जन्य था—

वयं पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणा
त्रियामां नेष्यामो हरचरणचित्तैकशरणाः॥ (वैराग्यशतक ५०)

६—भर्तृहरि की कृतियाँ और नीतिशतक का वर्ण्य विषय

भर्तृहरि शतकत्रय के प्रणेता कहे जाते हैं। ये तीन शतक हैं—शृंगारशतक, नीतिशतक और वैराग्यशतक। संभवतः वैराग्यशतक इनमें कवि की अन्तिम रचना है। सूक्ति-संकलनों में भी श्लोक पाये जाते हैं, जो प्रायः इन शतकों के हैं। शृंगारशतक की कुल छन्द-संख्या १०३ है, नीतिशतक की संख्या १११ है और वैराग्यशतक में १११ श्लोक हैं। संभावना इस बात की है कि भर्तृहरि के शतकों में दूसरे कवियों के बनाये हुए श्लोक भी सम्मिलित हैं। यद्यपि प्रक्षिप्त श्लोकों का अलगाव सम्पादकों ने किया है, पर उसे अन्तिम नहीं मानना चाहिए। शतक इतने लोकप्रिय हुए कि नीति-वैराग्य की रचना कर उनकी प्रसिद्धि के लिए कवियों ने अपनी प्रसिद्धि की चिन्ता न कर शतक में सम्मिलित कर दिया।

भर्तृहरि के शतकों को सामान्य जन से लेकर विद्वान् तथा साहित्यशास्त्र के

मर्मज्ञ तक पढ़ते रहे हैं। शतक के छन्द लक्षण-ग्रन्थों में उद्धृत हुए हैं। मम्मट जैसे साहित्य-मर्मज्ञ ने अपने काव्यप्रकाश में इनके छन्द को उद्धृत किया है। इन शतकों को विषयगत विभाग के अनुसार बांटा गया है। जैसे—मूर्खपद्धति, परोपकारपद्धति आदि। किन्तु भर्तृहरि ने इस विषय-विभाग के साथ इनकी रचना की होगी, ऐसा कदापि संभव नहीं है। हृदय और विचार की निर्भर समाधि-अवस्था में मुक्त रूप से इन शतकों के मुक्तक भर्तृहरि की वाणी से निःसृत हुए होंगे।

'नीतिशतक' में लोक-जीवन के व्यवहार की अनेक सूक्तियां हैं तथा उसके मुक्तकों में जिस विषय-वस्तु का वर्णन है, उससे सार्वकालिक अनुभवों के अनेक सिद्धान्त प्रत्यक्ष होते हैं, जो आज भी जीवन और लोक के लिए संजीवनीभूत हैं। विषय-वर्णन के अनुसार नीतिशतक में ११पद्धतियां हैं—(१) ब्रह्म की स्तुति, (२) मूर्ख-निन्दा, (३) विद्वत्पद्धति, (४) मानशौर्य-पद्धति, (५) अर्थ-पद्धति, (६) दुर्जन-पद्धति, (७) सुजन-पद्धति, (८) परोपकार-पद्धति, (९) धैर्य-पद्धति, (१०) दैव-प्रशंसा और (११) कर्म-पद्धति।

इनमें से कुछ विषय, जैसे—मूर्खनिन्दा, दुर्जन-निन्दा, सुजन-प्रशंसा—बाद के कथाकारों और कवियों के लिए भी बहुत प्रिय रहे हैं और इनका निबन्धन वे अपनी कृति के आरंभ में करते थे—

क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।

इस सूची में विषयों की कोई नवीनता नहीं है। लोक-जीवन के ये सदैव सामान्य विषय रहे हैं। पर इनको आधार बनाकर कवि ने जो कुछ कहा है, वे सब मर्मस्पर्शी अनुभवी बातें हैं। इनमें लोक-जीवन के अनुभव की बातें होने के साथ ही उच्च कोटि के काव्यत्व की भी अभिव्यक्ति है, जिसके कारण ही लक्षणकारों ने इनको अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है।

जैसा कि पहले कहा गया है, भर्तृहरि मुक्तक काव्य के रचयिता हैं। मुक्तक होने पर भी इनका प्रत्येक छन्द अपने पीछे कोई न कोई सन्दर्भ लिये रहता है। यह सन्दर्भ प्रायः जीवन के किसी विशिष्ट पक्ष का होता है और सर्वकाल में एक समान होता है, जैसे मन के सन्तोष की यह सराहना—

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान्को दरिद्रः ॥ (वैराग्यशतक ५१)

कहीं वह सन्दर्भ समाज से सम्बन्धित होता है । जैसे धन की यह प्रशंसा, जो कवि के सामने समाज में सर्वोपरि है । कुलीनता या शील रहे, न रहे पर धन के बिना जीवन दूभर है—

जातिर्यातु रसातलं गुणगणास्तत्राप्यधो गच्छतां
शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः संदह्यतां वह्निना ।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ॥ (नीति० ३२)

और कहीं कवि के निजी जीवन की इच्छायें हैं, जिनको उसने ललित काव्य का रूप दे दिया है—

वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदयाः
स्मरन्तः संसारे विगुणपरिणामावधिगतम् ।
वयं पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणां
त्रियामां नेष्यामो हरचरणचित्तैकशरणाः ॥ (वैराग्यशतक ५०)

कवि शरत्काल के चन्द्रमा की चांदनी में नहाये वन में शिव के ध्यान में रमकर रात्रि बिताना चाहता था । नीतिशतक के छन्दों में सामान्य रूप से नीति की ही बातें कही गई हैं । कहीं स्वाभिमानी पुरुषों के जीवन के आदर्श बताये हैं । जैसे—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ (नीतिशतक ७५)

इन मुक्तक छन्दों में कवि की पूर्ण काव्य-प्रतिभा के दर्शन होते हैं । रीति, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति अलंकार तथा रस (शृंगार, शान्त) का अच्छा परिपाक

भर्तृहरि के शतकों में है। कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। जिस अर्थ को कवि प्रस्तुत करना चाहता है, उसके अनुरूप ही उसकी भाषा प्रस्तुत हो जाती है।

७—भर्तृहरि की शैली

(क) रीति-गुण

भर्तृहरि वैदर्भी रीति के कवि हैं और इस रीति के समग्र गुण उनमें पाये जाते हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्रियों ने मुख्य रूप से तीन रीतियों का विश्लेपण किया है—वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली।

वामन ने रीति को ही काव्य का आत्मा माना है—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। और रीत का लक्षण है—

विशिष्टा पदरचना रीतिः। (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।२।६)

यहां विशिष्टा का अर्थ है—गुणों से युक्त—

विशेषो गुणात्मा। (वही)

ये गुण १० शब्दगुण हैं तथा १० अर्थगुण हैं।

वामन के पूर्व दण्डी ने भी रीति का निरूपण किया है। उन्होंने रीति को मार्ग कहा है। और काव्य के वैदर्भ एवं गौड दो मार्ग बताये हैं—

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ॥ (काव्यादर्श १।४०)

पुनः दण्डी ने वैदर्भ मार्ग के प्राण १० गुणों का व्याख्यान किया है। ये दस गुण हैं—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥ (वही १।४१-४२)

अर्थात् श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि—ये दस गुण वैदर्भमार्ग (काव्य) के प्राण हैं। गौड

मार्ग के भी ये प्राण हैं, किन्तु वहाँ इनका कुछ विपर्यय (लक्षण में उलट-फेर) पाया जाता है।

वामन के गुण भी यही हैं, पर उन्होंने शब्द और अर्थ के विभाग से इनकी २० संख्या कर दी है। वैदर्भ काव्य गौड और पांचाल काव्य से भिन्न होता था। इसका रूप क्या था, इस रूप के प्रति सही संकेत भामह के काव्यालंकार में मिलता है। यद्यपि वहाँ वह निन्दा के रूप में उद्धृत हुआ है तथापि उससे यथार्थ सत्य का पता हमें चल जाता है। भामह के सामने गौड काव्य की प्रशंसा इष्ट थी, अतः उन्होंने गौड काव्य को अर्थगाम्भीर्य से पूर्ण कहा है, वैदर्भ काव्य को केवल गेय (गाया जाने वाला) बताया है। उसकी निन्दा करते हुए वे कहते हैं—

> अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
> भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ॥ (काव्यालंकार १।३४)

अर्थात् वैदर्भ काव्य पुष्टार्थ एवं वक्रोक्ति से रहित होता है। उसकी विशेषतायें केवल ये हैं—प्रसन्न (तुरन्त समझ में आ जाने वाला), ऋजु (जिसमें अर्थ सीधे कहा गया हो, वक्रोक्तिपूर्ण न हो) और कोमल (सुनने में मधुर) अर्थात् वैदर्भ काव्य हर तरह से श्रुतिपेशल होता है। अपने इस कथन में वैदर्भ काव्य के जो तीन पक्ष भामह ने कहे हैं, वस्तुतः ये उसके गुण हैं। दूसरे शब्दों में हम उसको प्रसाद-गुण-युक्त काव्य कह सकते हैं। यही वैदर्भी रीति या वैदर्भ काव्य का अपना विशिष्ट अभिज्ञान है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें अर्थवत्ता और कथन की वक्रता नहीं होती। ये भी उसमें रहते हैं। पर प्रसन्न पदावली का प्रयोग उसकी सर्वोपरि विशेषता है।

भर्तृहरि के काव्य में इस प्रसन्न पदावली का प्रयोग सर्वत्र पाया जाता है। कानों से सुनते ही हम उस काव्य को समझ जाते हैं। वैसे दस गुणों को दण्डी ने वैदर्भ काव्य का प्राण कहा है। पर उनमें भी श्लेष, प्रसाद तथा अर्थ-व्यक्ति ऐसे गुण हैं, जो भर्तृहरि के काव्य में प्रायः सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। श्लेष का अर्थ है पदावली के प्रयोग में शैथिल्य का अभाव, जो संयुक्त और महाप्राण अक्षरों के प्रयोग से आता है—'श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यं तदिष्टं बन्धगौरवात्' अर्थव्यक्ति कहते हैं अर्थ के अनेयत्व धर्म (खींचातानी का अभाव) को—'अर्थव्य-

क्तिरनेयत्वमर्थस्य'। और प्रसाद कहते हैं प्रसिद्ध अर्थ के प्रयोग को—'प्रसादवत् प्रसिद्धयर्थम्'। ये तीनों गुण भर्तृहरि के काव्य में प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं। वैदर्भ काव्य की सारी विशेषतायें उनकी सूक्तियों में हैं। एक उदाहरण देखिए—

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितो
मदक्षीणो नागः शरदि सरिदाश्यानपुलिना।
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नराः॥ (नीतिशतक ३६)

यहाँ बीच-बीच में संयुक्ताक्षरों—शाणोल्लीढः, मदक्षीणः, सरिदाश्यान, शेषश्चन्द्रः, तनिम्ना—एवं महाप्राण अक्षरों— श, ढ, ह, स, भ, थ—के प्रयोग से पदबन्ध को दृप्त रखा गया है। ऐसे प्रसिद्ध अर्थों का प्रयोग है, जिनको समझने में देर नहीं लगती तथा कहीं अर्थ की खींचातानी नहीं है। इसी प्रकार दूसरा उदाहरण है—

शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।
अधोऽधो गाङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥ (नीतिशतक १०)

वैदर्भ काव्य का एक विशेष गुण है—लंबे वाक्य-विन्यास का अभाव तथा लंबे समासयुक्त पदावली का अभाव। वह भर्तृहरि के मुक्तकों में प्रायः सर्वत्र है। इसी कारण उनमें प्रसाद गुण भी सर्वत्र विद्यमान रहता है, और पढ़ते ही हमें अर्थ का बोध होने लगता है।

(ख) अलंकार

काव्यशास्त्र में अलंकार की बहुत चर्चा हुई है। सच बात तो यह है कि अलंकार के प्रयोग से ही काव्य मंडित होता था। १०० से अधिक अलंकारों का निरूपण काव्यशास्त्रियों ने किया है। दण्डी ने अलंकारों की परिभाषा करते हुए कहा है कि काव्य के शोभाकर धर्मों को अलंकार कहते हैं। उनके नये-नये विकल्प अब भी निरूपित किये जाते हैं। इसलिए समग्र रूप से उनका व्याख्यान कौन कर सकता है—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।
ते चाद्यापि विकल्पन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥ (काव्यादर्श २।१)

भामह ने शब्दप्रयोग और अर्थ-व्युत्पत्ति दोनों को ध्यान में रखते हुए दोनों को समान रूप से काव्य में इष्ट बताया है—

रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम् ।
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥
(काव्यालङ्कार १।१४—१५)

वामन ने कहा है कि विना अलंकार के काव्य की प्रतिष्ठा ही नहीं है—

काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् ।

और सौन्दर्य ही अलंकार है—

सौन्दर्यमलङ्कारः । (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।१।२)

सौन्दर्य का अर्थ चमत्कार या सूक्ति की सरसता है ।

चन्द्रालोककार जयदेव ने कवि-कल्पना को ही अलंकार कहा है—

शब्दार्थयोः प्रसिद्ध्या वा कवेः प्रौढिवशेन वा ।
हारादिवदलङ्कारः सन्निवेशो मनोहरः ॥ (चन्द्रालोक ५।१)

कवि-कल्पना की कोई अन्तिम सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती, इसलिए अलंकार अन्तिम रूप से इतने ही हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता । "अलंकार अर्थ की भंगिमा है, और काव्य या सूक्ति का समस्त चमत्कार अथवा आनन्द इसी अर्थ-भंगिमा से उत्पन्न होता है । जब अलंकार के रूप में इस अर्थ-भंगिमा की दिशा निर्धारित हो गई तब काव्य की शास्त्रीय चर्चा में इन अलंकारों के प्रति अबाध जिज्ञासा फूट पड़ी । न तो अर्थ-भंगिमा का अंत हो सकता था और न अलंकारों की संख्या निर्धारित की जा सकती थी । इसलिए दण्डी ने कहा—आज भी, अलंकार-प्रकारों की नई-नई उद्भावनायें प्रस्तुत की जा सकती हैं । भला कौन इन अलंकारों का समग्र रूप से निर्वाचन कर सकता है ।"

(आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन पृ० ८७)

किन्तु इन अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग ही काव्य में चमत्काराधायक होता है। प्रयोग के प्रति बहुत अभिनिवेश काव्य का विघातक बन जाता है। आचार्य कुन्तक का कहना है कि पदार्थ के स्वाभाविक प्रस्तुतीकरण में उपमा आदि वाच्य अलंकारों का भूयसा प्रयोग उचित नहीं होता। उससे सौन्दर्य में मलिनता आने की संभावना रहती है—

भूयसां न वाच्यालङ्काराणामुपमादीनामुपयोगयोग्यता सम्भवति, स्वभाव-सौकुमार्यातिशयम्लानताप्रसंगात्। (वक्रोक्तिजीवित ३, १)

यह सत्य है कि अलंकार ही कवि का विधेय नहीं होता। उसे जिस अर्थ को कहना है, उसमें स्वाभाविक रूप से अलंकार का जितना सन्निवेश हो सके, वही उचित होता है और उससे ही काव्य का चमत्कार द्विगुणित होता है। भर्तृहरि के शतकों में इसी रूप में अलंकारों का प्रयोग हुआ है। वे कवि के अर्थ-निबन्धन में स्वभावतः आ गये हैं। कवि का उद्देश्य अपना अलग है, पर वह जिस अर्थ-भंगिमा से काव्य-वस्तु को प्रस्तुत करता है, उसमें अलंकार, रीति, रस, ध्वनि का समावेश अपने आप हो जाता है। भर्तृहरि की यह विशेषता उनके उत्कृष्ट कवित्व की द्योतक है। उनकी सूक्तियों में विशेष रूप से इन अलंकारों का प्रयोग हुआ है—निदर्शना, उत्प्रेक्षा, उपमा, दीपक, रूपक, समुच्चय, प्रतिवस्तूपमा, अन्योक्ति, दृष्टान्त, परिसंख्या, अप्रस्तुतप्रशंसा, विरोध, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास। इन अलंकारों का प्रयोग उनकी सूक्तियों में स्वाभाविक रूप से होता है, प्रयत्न के साथ नहीं। कवि का उद्देश्य अलंकारों का उदाहरण प्रस्तुत करना नहीं है, वरं च उसे तो अपनी भावभरित, नीति की सार रूपी वाणी का निबन्धन करना है। अलंकार अपने आप आ जाते हैं। इसीलिए उन अलंकारों का प्रयोग भर्तृहरि की सूक्तियों को विशेष वैचित्र्य प्रदान करता है। कुछ के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

(१) निदर्शना—महाकवि कालिदास का प्रिय अलंकार है। इसकी परिभाषा है—

अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः। (काव्यप्रकाश १०।९७)

अर्थात् जब निबन्धित अर्थों का असम्भव सम्बन्ध उपमा का परिकल्पक होता है तो निदर्शना अलंकार होता है।

यह अलंकार भर्तृहरि की वाणी को भी बहुत प्रिय है और इसके सुष्ठु प्रयोग उनके शतक में है। जैसे—

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते
भेत्तुं वज्रमणिं शिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते।
माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते
मूर्खान्यः प्रतिनेतुमिच्छति बलात्सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः॥

(नीतिशतक ६)

यहाँ पहले की तीन पंक्तियों के अर्थ—हाथी को मृणाल से बाँधना, शिरीष से हीरे को बेधना, मधु की बूंद से समुद्र को मीठा करना, काव्य-सूक्ति से मूर्खों को प्रसन्न करना—इस अप्रस्तुत अर्थ के साथ असम्भव सम्बन्ध उपमा की कल्पना कराता है, अंतः निदर्शना अलंकार है।

(२) उत्प्रेक्षा अलंकार—औपम्य वर्ग का है। इसका लक्षण है—

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्। (काव्यप्रकाश १०।९२)

अर्थात् प्रस्तुत की अप्रस्तुत रूप में संभावना उत्प्रेक्षा अलंकार है। भर्तृहरि की सूक्तियों में इसके उदाहरण पाये जाते हैं। जैसे—

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः।
मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः॥ (वैराग्य० ८१)

यहाँ जिस विद्या के साधन से स्वात्मानन्द में प्रवेश होता है उसको छोड़कर शेष विद्याओं की वणिग्वृत्ति के रूप में संभावना की गई है अर्थात् जिस विद्या से आत्मानन्द न मिला वह मानो बनिये के व्यापार के लिए जीवनवृत्ति मात्र चलाने के लिए है।

(३) उपमा—बहुत प्रसिद्ध अलंकार है। भर्तृहरि की सूक्तियों में इसके अनेक प्रयोग हैं। इसका लक्षण है—

यथाकथञ्चित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमा नाम सा तस्याः प्रपञ्चोऽयं प्रदर्श्यते॥ (काव्यादर्श २।१४)

साधर्म्यमुपमाभेदे। (काव्यप्रकाश १०।८७)

अर्थात् जहां दो वस्तुओं (प्रस्तुत-अप्रस्तुत) में भेद रहते हुए समानता स्थापित की जाती है, वह उपमा अलंकार है। इसमें चार पक्ष होते हैं—उपमेय (प्रस्तुत, जिसका वर्णन किया जाता है), उपमान (अप्रस्तुत, जिससे उपमा दी जाती है), साधारण धर्म (दोनों में समानता का आधार), वाचक शब्द (समानता का बोध कराने वाला शब्द—इव, यथा, समान, निभ, सन्निभ, संकाश, सदृश, कल्प आदि)। इनमें कहीं-कहीं चारों पक्ष नहीं रहते। उसको लुप्तोपमा कहते हैं। जहां चारों पक्ष होते हैं, उसको पूर्णोपमा अलंकार कहते हैं। जैसे—

राजन् दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेनां
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपुष्यमाणे
नानाफलं फलति कल्पलतेव भूमिः॥ (नीतिशतक ३८)

यहां 'वत्स के समान लोक का पालन करो', 'कल्पलता के समान भूमि नाना फल फलती है'—दोनों में उपमा है। 'क्षितिधेनु' में रूपक है। रूपक की परिभाषा है—

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः। (काव्यप्रकाश १०।९३)
उपमैव तिरोभूता तत्र रूपकमुच्यते। (काव्यादर्श)

(४) समुच्चय—सद्योग, असद्योग, सदसद्योग को समुच्चय अलंकार कहते हैं। भर्तृहरि का असद्योग का प्रसिद्ध उदाहरण है—

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतिः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे॥ (नीतिशतक ४६)

यहां सात असद्योगों के लिए कवि के मन में शल्य है।

(५) दृष्टान्त—प्रस्तुत-अप्रस्तुत के साधारण धर्मों का जहां बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होता है, उसे दृष्टान्त अलंकार कहते हैं। इसका लक्षण है—

दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् । (काव्यप्रकाश १०।१०२)

भर्तृहरि के नीतिशतक में इसका उदाहरण यह है—

अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् मावमंस्था-
स्तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव तान् संरुणद्धि ।
अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ।। (नीतिशतक १४)

यहाँ पण्डित जन और मदमत्त हाथी की स्थितियों का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होने से दृष्टान्त अलंकार है।

(६) परिसंख्या—अलंकार उसे कहते है, जहाँ प्रश्न के साथ या बिना प्रश्न के कुछ कहा जाय और वह उसी के समान किसी वस्तु के निषेध के लिए हो। इसका लक्षण है—

किञ्चित् पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत् प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ।।

(काव्यप्रकाश १०।११६)

भर्तृहरि की सूक्तियों में इसके कई उदाहरण हैं। जैसे—

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः ।
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ?
सौजन्यं यदि किं बलेन महिना यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ।।

(नीतिशतक ४५)

यहाँ प्रश्न-पूर्वक लोभ, पिशुनता आदि का निवारण किया गया है—

(७) अर्थान्तरन्यास—इस अलंकार का प्रयोग भर्तृहरि की सूक्तियों में कई स्थलों पर हुआ है। अर्थान्तरन्यास का लक्षण है—

सामान्यं विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ।।

(काव्यप्रकाश १०।१०९)

अर्थात् जहाँ साधर्म्य या वैधर्म्य के द्वारा विशेष से सामान्य का अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन होता है, उसे अर्थान्तरन्यास अलंकार कहते हैं। जैसे—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ॥ (नीतिशतक ३२)

यहाँ ऊपर की विशेष बात का चतुर्थ चरण की सामान्य बात से समर्थन किया गया है।

(८) प्रतिवस्तूपमा—उपमान-उपमेय के अलग-अलग दो वाक्यों में जब एक ही साधारण धर्म शब्द-भेद द्वारा कहा जाता है तब उसको प्रतिवस्तूपमा अलंकार कहते हैं। भर्तृहरि की सूक्तियों में इस अलंकार का भी मनोरम प्रयोग हुआ है। जैसे—

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरनिकान्तः ।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते ॥
(नीतिशतक ३०)

यहाँ इनकान्त (सूर्यकान्तमणि) उपमान और तेजस्वी पुरुष उपमेय है। दोनों वाक्यों में एक ही साधारण धर्म—दूसरे द्वारा अपमान नहीं सह सकते—को शब्दभेद द्वारा अलग-अलग कहा गया है।

मुख्य रूप से यही अलंकार है। इनके अतिरिक्त यथासंख्य, विरोध, व्यतिरेक, अन्योक्ति, काव्यलिंग, दीपक, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों का सुष्ठु प्रयोग भी भर्तृहरि की सूक्तियों में है। विस्तार-भय के कारण उनके उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं।

(९) अन्योक्ति—ऐसा अनुमान है कि अन्योक्ति का प्रथम प्रयोग भर्तृहरि ने ही किया है, यद्यपि इसका लक्षण-विवेचन बहुत बाद में रुद्रट (९वीं शती) ने अपने काव्यालंकार में किया। भर्तृहरि का अन्योक्ति का प्रयोग यह है—

वरं पक्षच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश-
प्रहारैरुद्गच्छद्बहुलदहनोद्गारगुरुभिः ।
तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेशविवशे
न चासौ सम्पातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ॥ (नीतिशतक २६)

यहाँ हिमालय को संकट में छोड़कर पुत्र मैनाक ने अपने को समुद्र में छिपाया—यह अन्योक्ति उसके लिए कही जाती है, जो संकट के समय अपने गुरुजनों को छोड़कर अपनी रक्षा करता है।

इन अलंकारों के प्रयोग से भर्तृहरि की काव्य-वस्तु की अभिव्यक्ति अधिक प्रभावोत्पादक बन गई है। अलंकार उनके लिए गौण हैं। वे स्वतः उनकी वाणी में प्रस्फुटित होते हैं।

(ग) ध्वनि और रस

अलंकार की तरह ध्वनि और रस की सुन्दर अभिव्यक्ति भर्तृहरि के काव्य में हुई है। रसों में शृंगार और शान्त दो रस ही उनके विधेय हैं। ध्वनि के भेदों में कई एक के दर्शन उनकी कविता में होते हैं। ये रस और ध्वनि भी भर्तृहरि के काव्य में उनकी वाणी के सहजात हैं। कवि ने उनको जान-बूझकर नहीं प्रयोग किया है। संभवतः भर्तृहरि के सामने ध्वनि और रस का निरूपण भी काव्यशास्त्र में नहीं हुआ था। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य में वस्तु से वस्तुध्वनि का उदाहरण देखिए—

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्यकार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥

यहाँ शान्त-शृंगार भाव के संशयगत वस्तु से 'भूधराणां नितम्बाः सेव्याः' इस वस्तु का निश्चय वस्तु से वस्तु-व्यंग्य का उदाहरण है।

दूसरा उदाहरण लीजिए—

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणमेव वैरिणो जगति ॥
(नीतिशतक ५१)

यहाँ पूर्वार्ध में 'तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम्' में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनि है, जिसका भाव है कि लोक से शेष बची वस्तु (तृण, जल, सन्तोष) का ही जो सेवन करते हैं, लोक के स्वार्थ में पैर नहीं अड़ाते। साथ ही वस्तु से अलंकार-ध्वनि भी यहाँ पर है। यहाँ कथ्य से मृग, मीन तथा सज्जन की लुब्धक, धीवर तथा पिशुन से उपमा ध्वनित हो रही है।

आचार्य मम्मट ने भर्तृहरि के वैराग्यशतक से ही शान्त रस का उदाहरण प्रस्तुत किया है—

> अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा
> मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा।
> तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
> क्वचित्पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः॥ (वैराग्य० ४१)

यहाँ पर निर्वेद स्थायी भाव है। मिथ्या भासित होने वाला जगत् आलम्बन है, तपोवन उद्दीपन है, सब में समदृष्टि अनुभाव है, मति, धृति, हर्ष व्यभिचारी भाव हैं। इस प्रकार शान्त रस यहाँ अभिव्यक्त है। (काव्यप्रकाश के टीकाकार वामनाचार्य झलकीकर के अनुसार यह पद्य अभिनवगुप्ताचार्य के गुरु श्रीमद् उत्पलराज का है। भर्तृहरि के वैराग्यशतक में भी यह पद्य उद्धृत है, अतः कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता।)

शान्त रस का दूसरा उदाहरण लीजिए—

> गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य-
> ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।
> किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैः यत्र ते निर्विशङ्काः
> कण्डूयन्ते जरठहरिणः शृङ्गमङ्गे मदीये॥
>
> (वैराग्यशतक ४२)

यहाँ हिमालय, गंगातट आदि उद्दीपन हैं। हर्ष व्यभिचारी भाव है। ब्रह्मध्यान और निश्चल समाधि अनुभाव है। इस प्रकार निर्वेद स्थायी भाव 'वृद्ध हरिण मेरे समाधिस्थ शरीर में अपने सींग खुजलाने का आनन्द लेंगे'—इस कथन में शान्त रस की अभिव्यक्ति पा रहा है।

शान्त रस के अतिरिक्त ध्वनि और वक्रोक्ति के अनेक उदाहरण भर्तृहरि के काव्य में मिलेंगे, जो न केवल शास्त्रीय व्युत्पत्ति के प्रमाण हैं वरं च हमारे हृदय को अर्थ से अनेकशः आप्यायित कर देते है। वे चाहे वैराग्य की सूक्तियाँ हों अथवा नीति की सूक्तियाँ हों। दोनों का एक-एक उदाहरण लीजिए—

वैराग्योक्ति का उदाहरण—

> वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदयाः
> स्मरन्तः संसारे विगुणपरिणामावधि गतिम्।
> वयं पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणां
> त्रियामां नेष्यामो हरचरणचित्तैकशरणाः॥ (वैराग्यशतक ५०)

नीति-सूक्ति का उदाहरण—

> प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरं
> त्वसन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न वाच्यः कृशधनः।
> विपद्युच्चैर्स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां
> सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्॥
> (नीतिशतक ५८)

यहाँ 'केनोद्दिष्टं' पद में 'केन' शब्द के प्रयोग में 'संवृतिवक्रता' है। यहाँ 'केन' सर्वनाम सज्जनों के किसी अनिर्वचनीय आत्मबल, तप. संस्कार आदि अनेक वैचित्र्यों की ओर संकेत करता है।

(घ) भाषा

भर्तृहरि की भाषा बहुत ही प्राञ्जल एवं स्फीत है। कहीं भी यह नहीं प्रतीत होता है कि कोई शब्द अनावश्यक रूप से बैठाया गया है। उनकी भाषा स्वाभाविक रूप मे अंकुरित, पल्लवित और विस्तार-प्राप्त वृक्ष की शाखायें जैसी मनोहर लगती है। ऐसा ही भर्तृहरि का प्रत्येक छन्द है, जिसमें कहीं भी कुछ अस्वाभाविक नहीं मालूम पड़ता। कवि की वाणी से स्वभाविक रूप से ये छन्द प्रस्फुटित हैं। इस स्वाभाविकता की पृष्ठभूमि में कवि का अनुभव और पाण्डित्य विद्यमान है। यही कारण है कि सूक्तियों में अनेक अलंकार और भावसंयोजन की अभिव्यक्तियाँ अत्यन्त रमणीक बन गई हैं। रमणीक होने के साथ ही वे अत्यन्त स्वाभाविक हैं और भावों की स्वाभाविकता ही उनका प्रमुख गुण है।

भर्तृहरि की भाषा में वैदर्भी रीति, विशिष्ट गुण प्रसाद, श्लेष, समता, अर्थ-व्यक्ति, कान्ति आदि का मनोहर प्रयोग हुआ है। भर्तृहरि ने जिस प्रकार के भाव और विचार को छंदों द्वारा प्रकट करना चाहा है उनकी भाषा वैसी ही मधुर तथा ओजस्वी निसर्गतः बन गई है। छोटे वाक्य तथा नाद-युक्त वर्ण-साम्य का प्रयोग उनकी भाषा के विशिष्ट पक्ष हैं। उदाहरण के लिए एक-दो श्लोक देखिए:—

दाक्षिण्यं स्वजने दया परिजने शाठ्यं सदा दुर्जने
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जने आर्जवम्।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने कान्ताजने धृष्टता
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः॥

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

(नीतिशतक १६—२०)

(ङ) प्रकृति-चित्रण और भावाभिव्यक्ति

भर्तृहरि का प्रकृति-चित्रण केवल मात्र प्रकृति-चित्रण ही नहीं है परन्तु जिन भावों और विचारों का तादात्म्य उन्होंने प्रकृति के सहारे कराया है वह उनकी शैली का प्रमुख अंग हैं। संपूर्ण संस्कृत-साहित्य में प्रकृति एक सहचरी के समान भावों के उद्दीपन में सहायक रही है। संस्कृत के महाकवि कालिदास तथा अन्य कवियों ने सौन्दर्य का मूल अधिष्ठान प्रकृति को स्वीकार किया है और प्रकृति का रूपात्मक एवं आलंकारिक चित्रण किया है। प्रकृति के पदार्थों का चेतनीकरण और प्रतीकात्मक पद्धति पर स्वतंत्र चित्रण इन कवियों की विशेषता रही है। परन्तु भर्तृहरि के प्रकृति-चित्रण की विशेषता मानव जीवन के साथ ही प्रकृति-जीवन का तादात्म्य स्थापित करना है। उन्होंने प्रकृति और प्राकृतिक वातावरण को चेतन स्वरूप में स्वीकार किया है जिस पर मानवीय भावनाओं, विचारों और क्रियाओं का स्थायी प्रभाव पड़ता है। भर्तृहरि ने प्रकृति को अपने मुक्तक काव्य में शम भाव के आलम्बन के रूप में ग्रहण किया है,

कहीं-कहीं उद्दीपनरूप में भी। पर इस संयोजन में भाव के साथ विचार की सरणि बहुत स्पष्ट है, अतः उसे कल्पित-रूप-विधान या भाव-विधान मात्र न कह कर दर्शन और चिन्तन भी कहना चाहिए। किन्तु यह दर्शन या चिन्तन काव्यम में रूपायित हुआ है। उनके काव्य में प्रकृति के चित्रण की विधा मुख्य रूप से यही है, पर उसकी व्यंजना-प्रक्रियायें कई हैं और उनकी दृष्टि का उक्त एक ही लक्ष्य प्रकृति को कई प्रकार से बार-बार आलोकित करता है। कही वे साधारण-सी उपमा में प्रकृति को तीव्र रूप में स्मरण करते हैं। जैसे—

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः संकल्पकल्पाः घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम्॥

(वैराग्यशतक ८२)

यहाँ जल की लहर तथा बादल में बिजली का चमकना अपनी उपमा से क्रमशः जीवन-आयु और जीवन-विलास के यथार्थ बोध को तीव्रता के साथ प्रस्तुत करते हैं। आयु और विलास किस प्रकार क्षणभंगुर है, यह प्रकृति में प्रकट जल की लहर और बादल में क्षण भर चमकने वाली बिजली से हमें जान लेना चाहिए।

और कहीं इसी प्रकार विचार-सरणि में, नीति-परक बातें कहने में कवि प्रकृति का स्मरण करता है, किन्तु प्रकृति का यह स्मृत रूप-विधान भाव की तल-गहराई को छूता रहता है। ऐसा ज्ञात होता है कि कवि सामान्य रूप से अपनी नीतिपरक बातों के समर्थन में ही इस प्रकृति के प्रसंग को उद्धृत कर रहा है, और पढ़ने पर शब्दों का चयन कुछ ऐसा प्रतीत होता है मानो वर्ण्य प्रकृति का बिम्ब साक्षात् उपस्थित है। जैसे—

अम्भोजिनीवनविहारविलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः॥ (नीतिशतक १५)

यहाँ 'हंसस्य अम्भोजिनीवनविहारविलासम्' प्रकृति के एक दृश्य का स्मरण

मात्र है जो प्रयुक्त शब्दों में ऐसी अभिव्यक्ति प्रकट करता है मानो हृदय के सामने सम्पूर्ण दृश्य अंकित हो गया हो। फिर भी अभिधा में उसका प्रयोग कवि केवल अपनी नीति के समर्थन में कर रहा है।

शम भाव के साथ प्रकृति को कवि ने जहाँ रसात्मक अभिव्यक्ति के साथ लिया है, वहाँ पूरा छन्द एक साथ प्रकृति-चित्रण और शम-अभिव्यक्ति से ओत-प्रोत रहता है। प्रकृति का ऐसा चित्रण जो शम (शान्त रस) का उद्दीपक बन जाये—एक मात्र भर्तृहरि की विशेषता है। भर्तृहरि की ऐसी उक्तियाँ अद्वितीय हैं। मन को उनको पढ़ने के बाद निर्भर शान्ति की अनुभूति होती है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

> वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदयाः
> स्मरन्तः संसारे विगुणपरिणामायविगतिम्।
> वयं पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणां
> त्रियामां नेष्यामो हरचरणचित्तैकशरणाः॥ (वैराग्यशतक ५०)

यहाँ शरत्काल की चाँदनी और पवित्र वन-भूमि में शिव के चरणों का ध्यान करते हुए कवि रात्रि बिताना चाहता है। शिव के चरणों में तो रात्रि कहीं बिताई जा सकती है। वन-भूमि में और शरत्काल की चाँदनी के प्रकाश में ही शिव के चरणों के ध्यान की कामना कवि को क्यों है? स्पष्ट है कि कवि का मन प्रकृति के ऐसे दृश्यों का उपासक रहा है अथवा उसे नगर तथा राजभवन से अधिक रमणीयता शरत्काल की चाँदनी में भींगे वनों एवं पहाड़ की चट्टानों में अनुभव होती है। उस अनुभव में वह हर-चरण का ध्यान प्रतिष्ठित करना चाहता है। यहाँ दो प्रश्न विचारणीय हैं कि (१) क्या उक्त प्रकृति ने कवि को हरचरणचित्तैकशरण होने की प्रेरणा दी अथवा (२) हरचरण के अनुराग ने नगर तथा राजभवन को त्यागकर प्रकृति की ऐसी गोद की खोज कर ली है। यहाँ हो सकता है कि दोनों प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' में ही हो, पर यह मूल प्रश्न है, जो कवि की रचना के मूल धर्म का उद्घाटन करता है। उसकी ओर गहराई में हम नहीं जाना चाहते, किन्तु प्रकृति का महत्त्व दोनों पक्षों में बना रहता है। इसी प्रकार का कवि का दूसरा उदाहरण है—

महादेवो देवः सरिदपि च सैवामरसरिद्-
गुहा एवागारं वसनमपि ता एव हरितः ।
सुहृद् वा कालोऽयं व्रतमिदमदैन्यव्रतमिति
कियद् वा वक्ष्यामो वटविटप एवास्तु दयिता ।। (वैराग्यशतक ४४)

यहाँ कवि ने गंगा नदी, पहाड़ की गुफा, अनन्त दिशाएँ, काल और वट-वृक्ष—सभी को अपने शम भाव के उद्दीपन रूप में देखा है। कवि के अदैन्य-व्रतधारी बनकर संसार से दूर होने के विचार में ये सभी उपकरण सहभागी बन रहे हैं। कवि इनसे जैसे प्रेरित होता है और परम शम भाव में स्थिर होकर ही कहता है कि महादेव ही एकमात्र देव है, अर्थात् जैसे शिव भस्म् लपेटे वन-पर्वत में निवास करते हैं; विभव की कोई चिन्ता नहीं है, वही मेरा आदर्श होगा। इन छन्दों में कवि के मूल भाव की स्थिति है। अन्यत्र भी वह बारम्बार इस बात की चेतावनी देता है कि मनस्वियों के रहने योग्य स्थान तो ये वन-पर्वत ही हैं। ऐसे पवित्र और सुखमय स्थानों में रहते हम धनपतियों की व्यर्थ की प्रशंसा क्यों करते हैं। ऐसे स्थानों में उसका मनस्वीपन शम भाव का पर्याय बन गया है। जैसे—

किं कन्दाः कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः
प्रध्वस्ता वा तरुभ्यः सरसफलभृतो वल्कलिन्यश्च शाखाः ।
वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमपगतप्रश्रयाणां खलानां
दुःखोपात्ताल्पवित्तस्मयपवनवशार्नातितभ्रूलतानि ।।
(वैराग्यशतक ६६)

गंगातरंगहिमशीकरशीतलानि
विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि ।
स्थानानि किं हिमवतः प्रलयं गतानि
यत्सावमानपरपिण्डरता मनुष्याः ।। (वैराग्यशतक ७०)

पहाड़ की कन्दरायें, कन्दमूल, निर्झर का जल, फलों से लदे वृक्ष, उनकी वल्कल वाली शाखायें, हिमालय के शिलाखंड जो गंगा के जल-शीकरों से शीतल हैं, जिन पर विद्याधर (देवजातिविशेष) कभी-कभी बैठकर विश्राम करते हैं—

ये सब जब विद्यमान हैं तब हमें धनमद से गर्वित खलों का मुख देखने की क्या आवश्यकता है ? यहाँ बहुत स्पष्ट है कि प्रकृति के ये अंग कवि के शम भाव को उद्दीप्त कर रहे हैं। पर प्रश्न है कि यहाँ क्या शम भाव प्रधान है या कवि का प्रकृति-निरीक्षण? जहाँ तक इन सूक्तियों में प्रकृति का चित्रित स्वरूप है, वह यही कहता है कि कवि को यहाँ प्रकृति का स्मृत रूप-विधान ही इष्ट है अर्थात् इन चित्रणों में प्रकृति का कोई बिम्ब चित्र हमारे सामने नहीं प्रस्तुत होता, न ही इनको पढ़कर हम केवल प्रकृति के रूप में तन्मय होते हैं। हम सृष्टि और तात्कालिक समाज की स्थिति पर विचार-प्रेरित हो उठते हैं। यही विशेषता सर्वत्र भर्तृहरि की सूक्तियों की है।

किन्तु यहाँ हम यह भी नहीं कह सकते कि कवि को प्रकृति-चित्रण इष्ट नहीं है, वह केवल अपने विचार प्रस्तुत करता है और विचारों के साक्षित्व में वह प्रकृति का भी स्मरण कर लेता है। क्योंकि प्रकृति का उस पर मोहक प्रभाव है। तभी तो वह कहता है कि पवित्र वन के बीच शरत्काल की चाँदनी में डूबा हरचरणचित्तैकशरण होकर रात्रि बिताऊँ—

वयं पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणां ।
त्रियामां नेष्यामो हरचरणचित्तैकशरणः ॥ (वैराग्यशतक ५०)

हरचरण में चित्तैकशरण तो कहीं भी हुआ जा सकता है, जिसमें शिव के प्रति यह तन्मयभाव है। वह दिन या रात में, शरत् या हेमन्त में, वन या गाँव में कहीं भी समाधिस्थ हो जाएगा। कवि का शरत्काल की चाँदनी को याद करना इस बात का प्रमाण है कि वह प्रकृति-प्रेमी है। उसे शरत्काल की चाँदनी की प्रियता का वर्णन करना इष्ट है, भले ही वह उसमें हर-चरण का ध्यान करे तथा कालिदास की तरह 'तं तमात्माभिलाषं, निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु' शरत्काल में प्रिय-प्रिया के विलास की कामना न रखता हो।

अन्यत्र दूसरे प्रसंग में उसकी कुछ भिन्न दृष्टियाँ भी प्राप्त होती हैं। प्रकृति का एक विशिष्ट पक्ष—पर्वत, वन, गंगा नदी, हिमालय—उसे प्रिय है और उसका स्मरण भी वह यत्र-तत्र करता है। किन्तु उसके साथ ही कहीं-कहीं वह ऐसी भविष्यत्कल्पना में भी डूबता है जिसमें अपने को प्रकृति में खो देना चाहता है, प्रकृतिवत् हो जाना चाहता है। जैसे—

गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैः यत्र ते निर्विशङ्काः
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः शृङ्गमङ्गे मदीये ॥ (वैराग्यशतक ४२)

कवि की कामना है कि गंगा के तट पर हिमालय की शिला हो, वहां मैं ब्रह्मध्यान में आसन लगाऊं, योगनिद्रा (समाधि) में पहुंच जाऊं, निर्विकल्प समाधि लग जाय, हरिण यह अनुभव करें कि मैं भी शिला का कोई अंग, धरती का ढूहा अथवा वृक्ष का तना हूं और वे निडर होकर मेरे शरीर में अपने सींग रगड़कर उनकी खुजली मिटाएं । मुझे इसका पता तक न चले । इस कल्पना में प्रकृति के प्रकृष्ट स्मरण के साथ कवि को उसका अत्यन्त तादात्म्य भी इष्ट है । हरिणों को उसने वृक्षों में, धरती के ढूहों में सींग खुजलाते देखा होगा । हरिणों की यह मनोहर क्रिया उसके मन में बस गई है और उनका यह व्यापार वह अपने साथ भी चाहता है, लेकिन ऐसा कब होगा जब वह प्रकृति के साथ जड़ हो जाय । उसके लिए निर्विकल्प समाधि ऐसी अवस्था है । वह यह कामना नहीं करता है कि समाधि में आत्मलीन होकर वह अत्युच्च लोक के लिए ऊर्ध्वगामी बन जाय, वरंच समाधि लगे—गंगा के तट पर, हिमालय की शिला पर उसके शरीर से हरिण सींग की खुजलाहट मिटाएं । इतना अवश्य हो । आगे जो होगा सो होगा । बहुत स्पष्ट है कि कवि के मन में हिमालय और गंगा नदी का रम्य वातावरण ओत-प्रोत है ।

भर्तृहरि ने निसर्गजात प्रकृति और नगर की कृत्रिम प्रकृति—उपवन, बावली को तुलनात्मक रूप में भी रखा है । देखिए—

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुजलं पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः ।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परिक्षीयते ॥
(वैराग्यशतक १०३)

उनका कहना है कि गिरिकन्दरा में निवास करने वाले परब्रह्म के ध्यान में

योगियों का जीवन धन्य है, जिनकी गोद में निर्भय बैठकर पक्षी उनके आनन्द-अश्रु-जल का पान करते हैं। दूसरे हम लोग हैं जो स्वयं की क्रीडा के लिए रचे गये उपवन, बावली में कौतुक करते हुए आयु बिता देते हैं। अर्थात् प्रकृति का निसर्ग रूप ही हमें सांसारिक वातावरण से उन्मुक्त जीवन की सिद्धि दे सकता है।

पर अन्ततोगत्वा जो भी स्थिति हो, भर्तृहरि अपने को परब्रह्म में लीन करने के पहले प्रकृति में विलीन कर देना चाहते हैं। अनेकधा उनके मुक्तकों में इस भाव की अभिव्यक्ति होती है। उनका कहना है कि योगीश, सन्त का मनोराज्य इस प्रकृति के विस्तार में ही है, जहां मनुष्य की कोई शक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकती। उदाहरण देखिए—

> मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता
> वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।
> स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासङ्गमुदितः
> सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव॥ (वैराग्यशतक ७९)

अर्थात् पृथ्वी जिसकी शय्या है, आकाश चँदोवा है, वायु पंखा है, चन्द्रमा दीपक है, विरति वनिता है, वह मुनि एक अतनु ऐश्वर्य के साथ राजा के समान सुखपूर्वक सोता है।

ऐसा मालूम पड़ता है कि कवि को ब्रह्म की साधना गौण हो गई है। वह ऐश्वर्यवानों के विरोध में प्रकृति के मनोराज्य का गौरव गाना चाहता है। हाँ, पर यह बात भी है कि प्रकृति का यह गौरव वही गा सकता है, जिसके हृदय में परब्रह्म की निर्मल जिज्ञासा जग चुकी है।

प्रकृति से सम्बन्धित ऐसे चित्रण प्रायः वैराग्यशतक में ही पाये जाते हैं। 'नीतिशतक' में प्रकृति के प्रति ऐसे तीक्ष्ण अनुराग को प्रकट करने का अवसर उनको नहीं था। किन्तु तो भी नीति के स्पष्टीकरण के लिए यत्र-तत्र हम भर्तृहरि के प्रकृति के मनोहर प्रसंगों का स्मरण करते हैं। जैसे—

> मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितो
> मदक्षीणो नागः शरदि सरिदाश्यानपुलिना।

कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नराः ॥ (नीतिशतक ३६)

यहाँ कवि ने अपने नीति-सम्बन्धी उपमेयों के लिए शरत्काल की सिकुड़ी नदियाँ तथा द्वितीया का चन्द्रमा—जैसे उपमानों को सामने रखा है और अपने विचारों का सटीक बिम्ब खींच दिया है। प्रकृति-चित्रण का यह पक्ष यद्यपि नीति-वर्णन का सहायक है तथापि अपनी उपस्थिति के प्रस्तुत विषय को वह साकार कर रहा है। इसका अर्थ यह है कि प्रकृति के इन उपमानों को सामने लाने के लिए कवि को प्रयत्न नहीं करना पड़ा है। उसका निसर्ग अभिनिवेश है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भर्तृहरि का प्रकृति-चित्रण यद्यपि स्वतन्त्र नहीं हैं और उसे हम वाल्मीकि-रामायण या कालिदास के मेघदूत के समकक्ष नहीं रख सकते तथापि उस प्रकृति-चित्रण में भर्तृहरि की मौलिकता है। यह मौलिकता उसके दर्शन-पक्ष और प्रस्तुतीकरण पक्ष दोनों में है। वाल्मीकि या कालिदास प्रबन्ध के माध्यम से प्रकृति को प्रस्तुत करते थे, भर्तृहरि मुक्तक काव्य के माध्यम से। यह अन्तर उनमें प्रकृति-चित्रण के प्रस्तुतीकरण-पक्ष को भिन्न बनाता है, पर गुण-सम्बन्धी माप-दण्ड में अन्तर बहुत कम है।

(च) छन्द

भर्तृहरि के छन्दों में भी बड़ा लालित्य है। उनमें एक महान् समर्थ कवि की भाँति भाषा का सहज व्यवस्थापन देखने को मिलता है। उनका सबसे प्रिय छन्द शार्दूलविक्रीडित है। उसका प्रयोग उन्होंने बहुत किया है। उनके प्रयुक्त छन्दों के लक्षण आगे दिये जा रहे हैं—

१. शार्दूलविक्रीडितम्

लक्षण—सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।

अर्थात् शार्दूलविक्रीडित के प्रत्येक चरण में मगण (SSS) सगण (IIS) जगण (ISI) सगण (IIS) तगण (SSI) तगण (SSI) और एक गुरु (S) होता है। सात-सात वर्णों पर विराम होता है।

२. शिखरिणी

लक्षण—रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।

अर्थात् शिखरिणी के प्रत्येक चरण में यगण (ISS) मगण (SSS) नगण (III) सगण (IIS) भगण (SII) लघु (I) गुरु (S) होता है तथा छठे ग्यारहवें वर्ण पर विराम होता है।

३. स्रग्धरा

लक्षण—म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।

स्रग्धरा में क्रमशः मगण (SSS) रगण (SIS) भगण (SII) नगण (III) यगण (ISS) यगण (ISS) यगण (ISS) होते हैं। सात-सात वर्णों पर विराम होता है।

४. वसन्ततिलका

लक्षण—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

वसन्ततिलका के प्रत्येक चरण में तगण (SSI) भगण (SII) जगण (ISI) जगण (ISI) तथा दो गुरु (SS) होते हैं।

५. हरिणी

लक्षण—रसयुगहयैः न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा।

अर्थात् हरिणी के प्रत्येक चरण में नगण (III) सगण (IIS) मगण (SSS) रगण (SIS) सगण (IIS) लघु (I) तथा गुरु (S) होते हैं। छठे, दसवें तथा अन्त में विराम होता है।

६. मन्दाक्रान्ता

लक्षण—मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ न तौ ताद्गुरू चेत्।

अर्थात् मन्दाक्रान्ता के प्रत्येक चरण में मगण (SSS) भगण (SII) नगण (III) तगण (SSI) तगण (SSI) तथा दो गुरु (SS) होते हैं। चौथे, दसवें एवं अन्त में विराम होता है।

७. मालिनी

लक्षण—ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।

मालिनी के प्रत्येक चरण में नगण (III) नगण (III) मगण (SSS) यगण (ISS) यगण (ISS) होते हैं। आठवें तथा अन्त में विराम होता है।

८. द्रुतविलम्बित

लक्षण—द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ ।

द्रुतविलम्बित के प्रत्येक चरण में नगण (।।।) भगण (ऽ।।) भगण (ऽ।।) तथा रगण (ऽ।ऽ) होते हैं ।

९. वंशस्थ

लक्षण—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ।

वंशस्थ के प्रत्येक चरण में जगण (।ऽ।) तगण (ऽऽ।) जगण (।ऽ।) तथा रगण (ऽ।ऽ) होते हैं ।

१०. शालिनी

लक्षण—मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः ।

शालिनी के प्रत्येक चरण में ११ वर्ण होते हैं—१ मगण, २ तगण, २ गुरु । इसमें ४—७ पर यति होती है ।

११. रथोद्धता

लक्षण—रान्नराविह रथोद्धता लगौ ।

रथोद्धता के प्रत्येक पाद में ११ वर्ण होते हैं—१ रगण, १ नगण, १ रगण, १ लघु, १ गुरु ।

१२. दोधक

लक्षण—दोधकमिच्छति भत्रितयाद्गौ ।

दोधक के प्रत्येक चरण में ११ वर्ण होते हैं—३ भगण, २ गुरु ।

१३. श्लोक (अनुष्टुप्)

लक्षण—श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुः पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥

अनुष्टुप् या श्लोक के प्रत्येक पाद में ८ अक्षर होते हैं । इसमें षष्ठ अक्षर सदा गुरु होता है और पंचम अक्षर सदा लघु । द्वितीय और चतुर्थ चरण में सप्तम अक्षर लघु होता है और प्रथम तथा तृतीय चरण में गुरु होता है । अन्य अक्षर लघु या गुरु हो सकते हैं ।

१४. आर्या

लक्षण—यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥

यह मात्रिक छन्द है । इसके प्रथम पाद में १२ मात्रायें होती हैं, द्वितीय में १८, तृतीय में १२ और चतुर्थ में १५ मात्रायें होती हैं ।

८. भर्तृहरि की रचनाओं का मूल्यांकन

नीतिशतक और वैराग्यशतक-संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं । ये ग्रन्थ महाकवि भर्तृहरि की मनोदशा को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं और ऐसे सत्य का निरूपण करते हैं, जो सार्वकालिक, सार्वभौमिक और सर्वव्यापी हैं । भर्तृहरि के युग में समाज विलास-प्रधान हो गया था । उसकी चेतना में भोग का वातावरण छाया हुआ था । अतः विवेक, विद्या, धीरता एवं वीरता के प्रति आदर-अनुराग कम होता जा रहा था । भर्तृहरि के काव्य का सबसे प्रमुख संदेश युग-दर्शन द्वारा सामाजिक कुरीतियों पर ध्यान आकृष्ट करना; समाज के अनुकरणीय विद्वानों की मनोदशा का चित्रण करना और प्राणिमात्र को लोक-व्यवहार एवं जीवन-दर्शन का बोध कराते हुए सर्वव्यापी सत्य को स्थापित करना है । भर्तृहरि के काव्य का यह पक्ष न केवल संस्कृत साहित्य में परन्तु विश्व-साहित्य में विरल है ।

भर्तृहरि के वर्णनों से यह प्रतीत होता है कि उस समय सबसे बुरी दशा विद्वानों की थी । भर्तृहरि इन अपमानित विद्वानों को तृष्णा और राज्याश्रय की आशा के जाल से बचने के लिए सावधान करते हैं । उन्होंने स्त्री के विलास के आकर्षण से भी उनको सावधान किया है, क्योंकि विलास का दास हो जाने पर धन की आवश्यकता पड़ती है । धन की पूर्ति के लिये विद्वानों को विलासी तथा उन्मद राजाओं के यहाँ याचक बनना पड़ता है और उनकी चाटुकारिता करनी पड़ती है । प्रतिष्ठा की दृष्टि से यह ठीक नहीं है और उन्हें पुनः अपमानित होना पड़ता है ।

कवि का मन संसार की विलासिताओं और उनके द्वारा उत्पन्न क्षणिक तृप्ति को देखकर व्यग्र है । पर वह अपने मन को समझाता है कि तुम इस

शरीर के क्षणिक सुख के लिए क्यों तरस रहे हो ? यहाँ सभी काल का कलेवा बनने वाले हैं, फिर इस शरीर के सुख को इतना महत्त्व क्यों देते हो ? प्रलय में जब सुमेरु पर्वत ही जलकर भस्म हो जाता है तो इस शरीर की क्या सत्ता है, जो नष्ट होने वाला है। अपना स्वाभिमान खोकर उसके लिए हाथ पसारकर चारों ओर घूमना, आशा में बँधे-बँधे फिरना और तृष्णा में डूबते-उतराते रहना ठीक नहीं है। फिर कवि परलोक-सुधार का संदेश ग्रहण करता है; क्योंकि परलोक के मार्ग में स्त्रियों के नूपुर और मेखला की झनकार न सुनायी पड़ेगी। वहाँ तो शंकर के प्रति की हुई भक्ति और ब्रह्मविद्या का अनुशीलन ही हमारा सहायक होगा।

मन का मन्थन करते-करते संसार की विभूतियों के आकर्षण ने कवि का हृदय जब बिलकुल निःस्पृह हो उठता है तब उनके जीवन की धारा निखर उठती है। उसमें निर्मल आत्मबल, परम सन्तोष और सर्वत्र मनोराज्य का उदय होता है। वह दम्भी राजाओं से ऊँचे उठ जाता है, लक्ष्मी का तिरस्कार करता है और उन लोगों को, जो अब भी धन के लिए राजाओं की ड्योढ़ी पर स्तुति-गान कर रहे हैं, अपने इस स्वतन्त्र पथ पर चलने के लिए पुकारता है। इस प्रसंग की भर्तृहरि की सूक्तियाँ अत्यन्त प्राणवान् हैं। उनको पढ़ने और समझने पर प्रत्येक बुद्धिमान् को आत्मबल प्राप्त होगा; इसमें सन्देह नहीं।

भर्तृहरि की नीति-सम्बन्धी मान्यताएँ भी आज संभवतः डेढ़ हजार वर्ष बाद वैसी ही खरी है, जैसी वे तब रही होंगी। लगभग भर्तृहरि ने मनुष्य के आचरण, सामाजिक व्यवस्था और धर्म तीनों पर समान रूप से अपने प्रभावशाली विचार व्यक्त किये हैं। ऐसे विचारों में स्वच्छन्दता, वस्तु-स्थिति का यथार्थ चित्रण और पाठक को विभोर कर देने की अद्वितीय क्षमता है। अपने विचारों को कहीं वे पौराणिक प्रसंगों से अनुमोदित करते हैं, कहीं वर्तमान समाज में घट रही घटनाओं से, कहीं दार्शनिक चिन्तन से और कहीं मनुष्य के लिए आदर्श अतिमहनीय मनोबल से। समाज के लिए महनीय चरित्र के आदर्श वे अनेकधा प्रस्तुत करते हैं। पर ये कोरे आदर्श ही नहीं हैं वरन् समाज में उनकी आँखों के सामने घट रही घटनाओं के सुचिन्तित निष्कर्ष हैं। अतः उनके तत्कालीन चित्रण पाठक के हृदय में बाण की तरह चुभते हैं। जैसे इस छन्द को देखिए,

जिसमें कवि ने गुण, पातक, तपस्या, तीर्थ, बल, मण्डन, धन और अपयश के अभाव या स्थिति का सूत्र रूप में मूल्याङ्कन कर दिया है, समाज या व्यक्ति के लिए इनके भाव-अभाव का निरूपण बहुत विस्तार की अपेक्षा रखता है, पर कवि की आँखों के सामने जो घटनायें हैं, वे उसे इस सूत्रवत् कथन का सामर्थ्य प्रदान कर देती हैं—

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ।
सौजन्यं यदि किं बलेन महिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ?

(नीतिशतक ४६)

मानव-चरित के इस स्वच्छन्द निरूपण में भर्तृहरि प्रबन्ध लिखने वाले कवियों से आगे हैं। वे इनकी बराबरी नहीं कर सकते; क्योंकि उनको एक बँधे-बँधाये मार्ग पर नायक, नायिका या अन्य चरित्रों को प्रस्तुत करना होता है। प्रो० ए० बी० कीथ ने लिखा है—"भर्तृहरि की कविता संस्कृत को उत्कृष्टतम रूप में प्रदर्शित करती है। महाकाव्यों में जीवन और गति का अभाव है। उनके पात्र बँधे हुए ढंग के हैं और उनके वर्णन विवरण की दृष्टि से प्रशंसनीय होते हुए भी अतिजटिलता की ओर उन्मुख होते हैं, जिससे उनका प्रभाव नष्ट हो जाता है। भर्तृहरि के काव्य में प्रत्येक पद्य साधारणतः अपने में पूर्ण है और एक भाव को चाहे वह शृंगारविषयक, वैराग्यविषयक अथवा नीतिविषयक हो, सुरुचिपूर्ण परिष्कार और पूर्णता के साथ प्रकट करता है। संस्कृत भाषा में संकोच की जो विलक्षण शक्ति है, वह यहाँ अपने उत्कृष्टतम रूप में दिखाई देती है।"[1]

भर्तृहरि का अनुभव विशाल है। वे राजाओं के राजभवन से पूर्ण रूप से परिचित हैं। कदाचित् उनके चरित, व्यवहार, प्रतिदिन की दिनचर्या ने ही उनको विरति की प्रेरणा दी है। उनका परिचय समाज के शिष्ट वर्ग से भी

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास (भाषान्तरकार डा० मंगलदेव शास्त्री) पृ० २१७

बहुत गहरा है। क्योंकि उन्होंने जिन सारी कमियों का उल्लेख काव्य के माध्यम से किया है, वे सभी शिष्ट वर्गों की हैं। फिर उनका परिचय वन, तपोवन, पहाड़ की मनोहर परिस्थितियों से है। समाज के निम्न, अभावग्रस्त या अत्यन्त उपेक्षित वर्ग से उनका परिचय बहुत प्रगाढ़ नहीं है।

भर्तृहरि के शतक बहुत लोकप्रिय रहे हैं। उनके मुक्तक काव्यलक्षण-ग्रन्थों में बहुत उद्धृत हुए हैं और बहुत संभावना यह है कि कई छन्दों का प्रयोग दूसरे कवियों ने भी किया। दूसरी ओर यह भी देखा जाता है कि भर्तृहरि के शतकों में उनकी लोकप्रियता देखते हुए अन्य कवियों ने भी कुछ अपने पद्य सम्मिलित कर दिये हैं। साथ ही अन्य ग्रन्थों के पद्य भी शतकों में मिल-जुल गये हैं।

९. नीतिशतक में अन्य ग्रंथों के पद्य

(१) प्रारभ्यते न खलु ······ (मुद्राराक्षस)।

(२) कुसुमस्तबकस्येव········(समान भाव उ० च०)।

(३) यदचेतनोऽपि···········(समान भाव उ० च०; किरात०)।

(४) तानीन्द्रियाणि············(पञ्चतन्त्रम्; तन्त्राख्यायिका)।

(५) दानं भोगो··············(पञ्चतन्त्रम्; तन्त्राख्यायिका)।

(६) भवन्ति नम्राः············(अभिज्ञानशाकुन्तलम्)।

(७) शशिदिवाकरयोः········(तन्त्राख्यायिका; पञ्चतन्त्रम्) इत्यादि।

१०. नीतिशतक में प्रमुख सूक्तियाँ

वैसे तो भर्तृहरि का शतक सूक्ति-काव्य ही है अर्थात् उसके छन्द सभा या गोष्ठियों में सुनाने योग्य हैं। पर कहीं-कहीं छन्द के अन्त में ऐसे भी वाक्य आये हैं, जो सर्वथा नीतिपरक ही हैं। ऐसी कुछ सूक्तियों (नीतियों) की सूची नीति-शतक से दी जा रही है—

१. ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति।
   (मूर्ख को ब्रह्मा भी नहीं समझा सकते।)

२. विभूषणं मौनमपण्डितानाम्।
   (मूर्खों का मौन रहना उनके लिए भूषण है।)

३. न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् ।
(छोटा व्यक्ति ग्रहण की जाने वाली वस्तु की तुच्छता पर ध्यान नहीं देता, उसको जो भी मिल जाय ।)

४. विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ।
(जिनका विवेक भ्रष्ट हो जाता है उनका पतन सौ प्रकार से होता है ।)

५. मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ।
(मूर्ख को किसी प्रकार समझाया नहीं जा सकता ।)

६. वाग्भूषणं भूषणम् ।
(वाणी (विद्या) ही मनुष्य का सच्चा भूषण है ।)

७. विद्याविहीनः पशुः ।
(जिसके पास विद्या नहीं है, वह पशु है ।)

८. सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम् ।
(सत्संगति मनुष्य का बड़ा से बड़ा हित करती है ।)

९. सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ।
(विपत्ति में रहने पर भी प्राणी अपनी प्रतिष्ठा के अनुसार ही जीवन चाहता है ।)

१०. न खलु वयस्तेजसो हेतुः ।
(अवस्था से कोई तेजस्वी नहीं होता है । तेजस्वीपन जन्मजात होता है ।)

११. सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ।
(धनी मनुष्य ही गुणवान् कहा जाता है ।)

१२. सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।
(सेवा करना बड़ा कठिन काम है, योग से भी यह साधना दुष्कर है ।)

१३. सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगः ।
(सज्जन पुरुष अपने आप दूसरे की भलाई करते हैं ।)

१४ प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ।
(महान् लोग आरम्भ किये हुए कार्य को पूरा करके ही छोड़ते हैं, बीच में नहीं त्यागते ।)

१५. मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ।
(अपने कार्य में लगा मनस्वी व्यक्ति दुःख-सुख की चिन्ता नहीं करता ।)

१६. न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।
(धीर लोग न्यायोचित मार्ग से कभी पीछे नहीं हटते ।)

१७. शीलं परं भूषणम् ।
(शील मनुष्य की शोभा है ।)

१८. विधिरहो बलवानिति मे मतिः ।
(भाग्य बड़ा प्रबल होता है ।)

१९. हतविधिपरिपाकः केन वा लङ्घनीयः ।
(दुर्भाग्य को कौन लांघ सकता है ?)

२०. नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ।
(उस कर्म को प्रणाम है, जिस पर ब्रह्मा का भी कुछ वश नहीं चलता ।)

२१. भाग्यानि पूर्वतपसा खलु संचितानि
कालेफलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ।
(पूर्व जन्म की तपस्या से संचित भाग्य मनुष्य के जीवन में वृक्ष के समान फलता है ।)

सांकेतिक शब्द

अव्य० स०	... ... अव्ययीभावसमास
उप० स०	... ... उपपदसमास
उपमि० स०	... ... उपमितसमास
कर्म० स०	... ... कर्मधारयतत्पुरुषसमास
च० त०	... ... चतुर्थीतत्पुरुषसमास
तृ० त०	... ... तृतीयातत्पुरुषसमास
द्व० स०	... ... द्वन्द्वसमास
द्वि० त०	... ... द्वितीयातत्पुरुषसमास
द्विगु० स०	... ... द्विगुसमास
न० त०	... ... नञ्तत्पुरुषसमास
पं० त०	... ... पञ्चमीतत्पुरुषसमास
प्रा० स०	... ... प्रादितत्पुरुषसमास
ब० स०	... ... बहुव्रीहिसमास
मयू० स०	... ... मयूरव्यंसकादित्वात् तत्पुरुषसमास
ष० त०	... ... षष्ठीतत्पुरुषसमास
स० त०	... ... सप्तमीतत्पुरुषसमास
✓	... ... यह धातुबोधक चिन्ह है।

श्रीभर्तृहरिविरचितम्

नीतिशतकम्

मंगलाचरण—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥ १ ॥

अन्वय—दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये, स्वानुभूत्येकमानाय शान्ताय तेजसे नमः ।

संस्कृत-व्याख्या—दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये—दिशः प्राच्यादिदिशाः कालाः भूतभविष्यद्वर्तमानलक्षणाः ते आदौ येषां तैः अनवच्छिन्ना अपरिमिता अनन्ता अन्तरहिता चिन्मात्रा ज्ञानमयी मूर्तिः स्वरूपं यस्य तस्मै, स्वानुभूत्येकमानाय—स्वस्य आत्मनः अनुभूतिः अनुभवः एक केवल मान प्रमाणं यस्य तस्मै, शान्ताय—शान्तिस्वरूपाय, तेजसे—प्रकाशरूपाय ब्रह्मणे, नमः—नमस्कारोऽस्तु ।

अनुवाद—दिशा और काल आदि द्वारा अपरिमेय, अनन्त तथा ज्ञानमय स्वरूप वाले, केवल निजी अनुभव द्वारा जानने योग्य, शान्त एवं ज्योतिः स्वरूप ब्रह्म को नमस्कार है ।

Adoration to that Peaceful Energy (Light) whose form is pure intelligence, infinite and unconditioned by space, time, etc.. and the principal means of knowing which is self-perception.

संस्कृत-भावार्थ—यस्य ब्रह्मण. स्वरूपं दिक्कालादिभिः अपरिमितम् अनन्तं तथा ज्ञानमयं वर्तते, यस्य अस्तित्वस्य एकमात्रं प्रमाणं मनुष्यस्य अनुभवो विद्यते यच्च शान्तिमयं ज्योतीरूपं चास्ति तस्मै नमस्कारोऽस्तु ।

टिप्पणी—(१) दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये—जिस परब्रह्म का स्वरूप दिशा, काल आदि से अपरिमित है (अर्थात् दिशा, काल आदि में जिसे

बांधा नहीं जा सकता), अनन्त है (जिसका पारावार नहीं) और ज्ञानमय है, उसे । दिशश्च कालश्च इति दिक्कालाः (द्वन्द्व स०) । दिक्कालाः आदयः आदौ वा येषां ते दिक्कालादयः (बहुव्रीहि स०) । यहाँ आदि पद से सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण समझना चाहिए। दिक्कालादिभिः अनवच्छिन्ना (तृ० तत्पु०) । न विद्यते अन्तो यस्याः सा अनन्ता (नञ्बहुव्रीहि स०) । चिदेव चिन्मात्रा (मयूरव्यंसकादित्वात् नित्यसमासः) । दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना अनन्ता चिन्मात्रा च (द्वन्द्व स०) दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रा मूर्तिः यस्य तत् (ब० स०), तस्मै । यह 'तेजसे (ब्रह्मणे)' का विशेषण है। यहाँ अन्य प्रकार से भी समास कर सकते हैं—चिन्मात्रं मूर्तिः यस्य तत् चिन्मात्रमूर्ति (ब० स०) । दिक्कालाद्यनवच्छिन्नं तत् अनन्तं च इति दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तम् (विशेषणोभयपदकर्म० स० 'खञ्जकुब्जः' की तरह) । दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तं न तत् चिन्मात्रमूर्ति च इति दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्ति (कर्म० स०), तस्मै । ब्रह्म देश, काल आदि से परे है, यह वेदान्तदर्शन का मत है । 'देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्वाच्च मायया । न देशादिकृतोऽन्तोऽस्ति ब्रह्मानन्त्यं स्फुटं तथा ।।' वेदान्तपञ्चदशी । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति तैत्तिरीयोपनिषद् । √मूर्च्छ्+क्तिन्=मूर्ति । यहाँ समास में 'मूर्तये' और 'मूर्तिने' दोनों रूप हो सकते हैं । (२) स्वानुभूत्येकमानाय—जिसके अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण मनुष्य का अपना निजी अनुभव ही है अर्थात् जो आत्मानुभव द्वारा जानने योग्य है उसे। स्वस्य अनुभूतिः स्वानुभूतिः (ष० त०) एकं मानम् एकमानम् (कर्म० स०) । स्वानुभूतिः एकमानम् मुख्यप्रमाणं यस्य तत् (ब० स०), तस्मै। एक=मुख्य। 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः। मान=प्रमाण। मीयते अनेन इति मानम् √मा+ल्युट् । 'प्रत्यक्षं प्रमाणम्' इति चार्वाकः । 'प्रत्यक्षानुमाने प्रमाणे' इति बौद्धाः। 'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि' इति वेदान्तिनः। 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' इति नैयायिकाः। (३) शान्ताय—हलचल या सभी प्रकार के विकारों से रहित । √शम्+क्त कर्तरि=शान्तम्, तस्मै । 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इति श्रुतिः । (४) तेजसे—प्रकाशरूप को । यहाँ 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च' सूत्र से चतुर्थी हुई । ब्रह्म को ज्योतिः स्वरूप माना गया है । 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य' इति छान्दोग्योपनिषद् ।

इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलंकार है और अनुष्टुप् छन्द है। अनुष्टुप् का लक्षण—'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्। द्विचतुः पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥'

विशेष—भर्तृहरि ने इस श्लोक में ब्रह्म को नमस्कार करके मंगलाचरण किया है; क्योंकि 'ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मङ्गलमाचरणीयम्' यह शिष्टाचार है। महाभाष्यकार ने भी कहा है—'अथ मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति।' मंगलाचरण का लक्षण—'आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्' इति दण्डी।

अथ मूर्खपद्धतिः

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥२॥

अन्वय—बोद्धारः मत्सरग्रस्ताः, प्रभवः स्मयदूषिताः। अन्ये च अबोधोपहताः, (अतः) सुभाषितम् अङ्गे जीर्णम्।

संस्कृत-व्याख्या—बोद्धारः—परिज्ञातारः, मत्सरग्रस्ताः—मत्सरेण असूयया ग्रस्ताः आक्रान्ताः, प्रभवः—राजानः, स्मयदूषिताः—स्मयेन गर्वेण दूषिताः विकृताः दुर्विनीता इति यावत्, अन्ये च—इतरे च जना इति शेषः, अबोधोपहताः—अबोधेन अज्ञानेन उपहताः नष्टाः, (अतः), सुभाषितं—सूक्तिः, अङ्गे—अवयवे अभ्यन्तरे इति यावत्, जीर्णम् अजीर्यत् अन्तर्निहितमित्यर्थः।

अनुवाद—पण्डितगण द्वेष से ग्रस्त हैं, और नृपवर्ग गर्व से चूर। दूसरे लोग तो अज्ञान के मारे हुए हैं। अतः बेचारा सुभाषित मेरे शरीर के भीतर ही बूढ़ा गया, (अभी तक बाहर नहीं निकला, किसने कहा जाय, तो भी कुछ कहता हूँ)।

The learned are seized with jealousy. Kings are defiled with self-conceit and others are *damned souls* for want of knowledge. So apothegm has withered within my body (for want of expression).

संस्कृत-भावार्थ—शिक्षिताः असूयन्ति, राजानः गर्वदुर्विनीताः सन्ति, अतस्ते सुभाषितं न शृण्वन्ति। अन्ये जनास्तु अज्ञानेन विक्लवाः सन्ति, ते सुभाषितं किं जानीयुः? अतः सुभाषितं मदीयान्तःकरणे अजीर्यत् नाद्यापि बहिरभवत् (तथापि वक्ष्यामि)।

टिप्पणी—(१) **बोद्धारः**—जानने-समझने वाले, शिक्षित लोग। √बुध्+तृच् कर्तरि। (२) **मत्सरग्रस्ताः**—डाह से जकड़े हुए। अर्थात् विद्वान् लोग मेरे सुभाषित को समझ सकते हैं और उसकी प्रशंसा कर सकते हैं, किन्तु वे तो इतने ईर्ष्याग्रस्त हैं कि मेरे सुभाषित को सुनते ही नहीं। √ग्रस्+क्त कर्मणि=ग्रस्त। मत्सरेण ग्रस्ताः (तृ० त०)। (३) **स्मयदूषिताः**—गर्व से विकृत या चूर ऐसे लोग सुभाषित क्यों सुनें? √स्मि+अप् स्मयः। √दूष्+णिच्+क्त कर्मणि=दूषित। स्मयेन दूषिताः (तृ० त०)। (४) **अबोधोपहताः**—अज्ञान से नष्ट। √बुध्+घञ् भावे=बोधः, न बोधः अबोधः (न० त०)। उप√हन्+क्त कर्मणि =उपहत। अबोधेन उपहताः अबोधोपहताः (तृ० त०)। भाव यह है कि बोद्धा और प्रभु के अतिरिक्त जो लोग हैं वे अज्ञान के मारे हुए हैं। उन्हें सुभाषित सुनाना तो भैंस के आगे बीन बजाना है। (५) **सुभाषितम्**—सुन्दर वचन। सु√भाष्+क्त भावे। (६) **जीर्णम्**—पुराना हो गया। अर्थात् कभी अभिव्यक्ति न पाने से गल-सा गया है, फिर भी मैं कुछ कहूँगा।

इस पद्य में श्लोक छन्द है। श्लोक या अनुष्टुप् का एक ही लक्षण है। अतएव श्लोक १ की टिप्पणी देखिए।

अधूरा ज्ञान कष्टकर होता है—

> **अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।**
> **ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति ॥३॥**

अन्वयः—अज्ञः सुखम् आराध्यः, विशेषज्ञः सुखतरम् आराध्यते, ब्रह्मा अपि ज्ञानलवदुर्विदग्धम् नरम् न रञ्जयति।

संस्कृत-भावार्थ—अज्ञः—मूर्खः, सुखम्—अनायासेन, आराध्यः—प्रसादनीयः, विशेषज्ञः—विशिष्टज्ञाता, सुखतरम्—अतिशयानायासेन, आराध्यते—प्रसाद्यते, ब्रह्मा—विधाता, अपि, ज्ञानलवदुर्विदग्धं—ज्ञानस्य बोधस्य लवेन लेशेन दुर्विदग्धं पण्डितमानिनं, नरं—मनुष्यं, न रञ्जयति—न प्रीणयति।

अनुवाद—अज्ञानी मनुष्य आसानी से प्रसन्न किया जा सकता है, विशेषज्ञ (पण्डित) तो और भी आसानी से प्रसन्न किया जा सकता है। लेकिन रञ्च ज्ञान के कारण गर्वित मूढ़जन को ब्रह्मा भी प्रसन्न नहीं कर सकते।

An ignorant man can be pleased easily. More easily is propitiated a learned man. Even god Brahma does not gratify a man foolishly puffed up with a grain of knowledge.

संस्कृत-भावार्थ—मूर्खो जनः अल्पप्रयासेन प्रसादयितुं शक्यः, अधिकज्ञानशाली तु अत्यन्तम् अनायासेन प्रसाद्यते; किन्तु पण्डितम्मन्यं पुरुषं ब्रह्मापि प्रीणयितुं न शक्नोति। का कथा तर्हि इतरेषां नराणाम् ?

टिप्पणी—(१) अज्ञः—मूर्ख। जानातीति ज्ञः √ज्ञा+क 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इत्यनेन। न ज्ञः अज्ञः (नञ्तत्०)। (२) सुखम्—आसानी से। अत्र क्रियाविशेषणे द्वितीया। (३) सुखतरम्— उससे भी अधिक आसानी से। सुख+तरप् 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' इत्यनेन। अत्रापि क्रियाविशेषणे द्वितीया। (४) आराध्यः—प्रसन्न या सन्तुष्ट करने योग्य। आ√राध्+ण्यत्) कर्मणि। राध् धातु दिवादिगणीय है। राध्यति, रराध, अरात्सीत् (५) विशेषज्ञः —विशेष रूप से जानने वाला। विशेषं जानातीति विशेष√ज्ञा+क 'आतोऽनुपसर्गे कः' इत्यनेन। (६) ज्ञानलवदुर्विदग्धम्—थोड़े से ज्ञान के कारण कुत्सित निपुण अर्थात् अल्पज्ञानी। वि√दह्+क्त कर्मणि=विदग्ध। इसका शब्दार्थ है —अच्छी तरह जला हुआ, किन्तु लाक्षणिक अर्थ है—सुसंस्कृत या पूर्ण शिक्षित। दुष्टं यथा तथा विदग्धः दुर्विदग्धः (प्रा० स०)। ज्ञानस्य लवः (ष० त०), तेन दुर्विदग्धः (तृ० त०), तम्। यह 'नरम्' का विशेषण है। (७) रञ्जयति— प्रसन्न या सन्तुष्ट करता है। √रञ्ज्+णिच्+लट्—तिप्।

विशेष—इस श्लोक में रंजन का सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध बताया गया है, इसलिए अतिशयोक्ति अलंकार है। इसमें आर्या छन्द है। आर्या का लक्षण—यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या।

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरा-
त्समुद्रमपि संतरेत्प्रचलदूर्मिमालाकुलम् ।
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारये-
न्न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥४॥

अन्वयः—मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात् प्रसह्य मणिम् उद्धरेत् । प्रचलदूर्मिमालाकुलम् समुद्रम् अपि संतरेत् । कोपितम् भुजङ्गमपि शिरसि पुष्पवत् धारयेत् । तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तम् न आराधयेत् ।

संस्कृत-व्याख्या—मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्—मकरः ग्राहः तस्य वक्त्रे मुखे दंष्ट्राणाम् अग्रदशनानाम् अन्तरात् मध्यात्, प्रसह्य—बलात्कारेण, मणिं—रत्नम्, उद्धरेत्—उद्धर्तुं शक्नुयात् । प्रचलदूर्मिमालाकुलं—प्रचलन्तः दोलायमानाः ऊर्मयः तरङ्गाः तेषां मालाभिः श्रेणीभिः आकुलं सङ्कुलं, समुद्रं—सागरम्, अपि, संतरेत्—पारं गच्छेत् । कोपितं—क्रुद्धं, भुजङ्गमपि—सर्पमपि, शिरसि—मस्तके, पुष्पवत्—कुसुमवत्, धारयेत्—धारयितुं शक्नुयात् । तु—किन्तु, प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तं—प्रतिनिविष्टस्य दुराग्रहाविष्टस्य मूर्खजनस्य मूढनरस्य चित्तं मनः, न आराधयेत्—न प्रसादयितुं शक्नुयात् ।

अनुवाद—कोई चाहे तो मगर के मुँह में हाथ डालकर उसके दाँतों के बीच से मणि को जबर्दस्ती खींचकर निकाल सकता है, लहराती तरंगों से उमड़ते समुद्र को हाथों से तैर कर पार कर सकता है, अपने सिर पर क्रोध से जलते हुए साँप को पुष्पमाला की तरह धारण कर सकता है, परन्तु जिद्दी मूर्ख के मन को कोई प्रसन्न नहीं कर सकता ।

One can by force take out a gem from amongst the fangs of a shark. One can swim across even the sea full of surging waves. One can place upon his head even an angry serpent like a flower, but one cannot please the heart of an obstinate fool (or the obstinate mind of a fool).

संस्कृत-भावार्थ—नरः ग्राहस्य मुखे हस्तं प्रवेश्य तस्य दंष्ट्रामध्यात् मणिं निष्कासयितुं कदाचित् प्रभवेत्, उल्लोलकल्लोलोज्जृम्भितं समुद्रमपि बाहुभ्यां कदाचित् तरितुं शक्नुयात् क्रुद्धं विषधरमपि स्वमस्तके पुष्पवत् कदाचित् धारयितुमर्हेत्,

किन्तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तं सन्तोषयितुं न कदापि प्रभवेत् सर्वेषामुपायानां प्रतिहतत्वात् ।

टिप्पणी—(१) मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्—घड़ियाल के मुख की डाढ़ों के बीच से । वक्ति अनेन इति वक्त्रम् √वच्—त्र । दृश्यते अनया इति दंष्ट्रा √दंश्+ष्ट्रन्—टाप् । मकरस्य वक्त्रम् (ष० त०), तस्मिन् दंष्ट्राः (सुप्सुपा स०), तासाम् अन्तरम् (ष० त०), तस्मात् । अपादाने पञ्चमी वा 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति सूत्रेण पञ्चमी (२) प्रसह्य—हठात्, बलपूर्वक (३) उद्धरेत्—खींचकर निकाल सके । उद्√हृ+विधिलिङ 'शकि लिङ् च' इति सूत्रेण शक्यार्थे । (४) प्रचलदूर्मिमालाकुलम्—चंचल लहरों द्वारा विक्षुब्ध । प्रचलन्तः ऊर्मयः (कर्म० स०), तेषां मालाः (ष० त०), ताभिः आकुलः (तृ० त०), तम् । (५) कोपितम्—क्रुद्ध । कोपः संजातः अस्य इति कोपितः कोप+इतच्, तम् । √कुप्+घञ्=कोपः । (६) भुजङ्गम्—सर्प को । भुजं कुटिलं यथा तथा गच्छति इति भुजङ्गः वा भुजङ्गमः भुज√गम्+खच् 'गमेः सुपि वाच्यः' इत्यनेन, 'खच्च डिद्वा वाच्यः' इत्यनेन खच्च डित्वे कृते गमेः मकारस्य विकल्पेन लोपः, 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इत्यनेन मुमागमः । तम् । (७) पुष्पवत्—फूल के समान । पुष्पेण तुल्यम् इति विग्रहे पुष्प+वति 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इत्यनेन । (८) प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तम्—हठी मूर्ख के चित्त को । प्रति-नि√विश्+क्त कर्मणि=प्रतिनिविष्ट । नि√विश्=निविशते 'नेर्विशः' इति सूत्रेण आत्मनेपदत्वम् । मुह्यतीति मूर्खः √मुह् ख, मूर् आदेश 'मुहः खो मूर् च' इत्यौणादिकसूत्रेण । मूर्खः एव जनः मूर्खजनः (मयूरव्यंसकादित्वात् समासः रूपकत्वः), प्रतिनिविष्टः मूर्खजनः (कर्म० स०), तस्य चित्तम् (ष० त०), तत् । (९) आराधयेत्—प्रसन्न कर सके । आ√राध्—विधिलिङ शक्यार्थे ।

विशेष—इस श्लोक में मणि निकालने आदि का असम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध दिखाया गया है, अतः अतिशयोक्ति अलंकार है । इसमें पृथ्वी छन्द है । पृथ्वी का लक्षण—'जसौ जसयलावसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' ।

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडय-
न्पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ।

कदाचिदपि पर्यटञ्शशविषाणमासादये-
न्नतु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥५॥

अन्वयः—यत्नतः पीडयन् सिकतासु अपि तैलम् लभेत; पिपासार्दितः मृगतृष्णिकासु सलिलम् पिबेत् च। पर्यटन कदाचित् शशविषाणम् अपि आसादयेत्। तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तम् न आराधयेत्।

संस्कृत व्याख्या—(जनः) यत्नतः—प्रयासेन, सिकतासु—बालुकासु, अपि, तैलं—स्नेहं, लभेत—प्राप्तुं शक्नुयात्, पिपासार्दितः—पिपासया पातुम् इच्छया अर्दितः पीडितः, (जनः) मृगतृष्णिकासु—मरीचिकासु, सलिलं—जलं, पिबेत् च—पातुं शक्नुयात् च, पर्यटन्—परिभ्रमन्, (जनः) कदाचित्—कस्मिंश्चित् समये, शशविषाणं—शशस्य शशकस्य विषाणं शृङ्गम्, अपि, आसादयेत्—लब्धुं शक्नुयात्। तु—किन्तु, प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तं—प्रतिनिविष्टः दुराग्रहयुक्तः मूर्खजनः शठः तस्य चित्तं चेतः, न आराधयेत्—न आराधयितुं शक्नुयात्।

अनुवाद—परिश्रमपूर्वक बालू को पेरता-पेरता कोई तेल निकाल ले, प्यास से व्याकुल कोई मृगतृष्णा का जल पी ले, इधर-उधर घूमता-फिरता कोई खरहे का सींग पा ले, लेकिन जिद्दी मूर्ख जन के मन को कोई भी प्रसन्न नहीं कर सकता।

Diligently pressing one, may get oil even from sands; parched with thirst one may drink water even in a mirage; roaming about, one may find, perchance, a hare's horn; but none can propitiate the heart of a stubborn blockhead.

संस्कृत-भावार्थ—मनुष्यः केनचित् अद्भुतयन्त्रेण मर्दयन् बालुकासु तैलं प्राप्तुं शक्नुयात्; पिपासया व्याकुलः कश्चित् मरुमरीचिकासु जलं पातुं शक्नुयात्; तथा इतस्ततो भ्रमन् कश्चित् कदाचित् शशकशृङ्गमपि लब्धुं शक्नुयात्; अर्थात् नरः महता प्रयत्नेन असम्भवमपि सम्भवं कर्तुं प्रभवेत्, किन्तु दुरभिनिवेशयुक्तमूर्खजनचित्तं प्रसादयितुं स कदापि न क्षमेत।

टिप्पणी—(१) यत्नतः—प्रयत्न या उपाय से। √यत्+नङ् 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' इति सूत्रेण, यत्न+तस्। (२) पीडयन्—पेरते हुए। √पीड+लट्—शतृ। (३) सिकतासु—बालू में। इस शब्द का प्रयोग सदैव बहुवचन में होता है—'आपः सुमनसो वर्षा अप्सरसः सिकताः समाः। एते स्त्रियां बहुत्वे

न्तुः एकत्वेऽपि क्वचिन्मताः ॥' (४) तैलम्—तेल । तिलस्य विकारः तैलम् तिल+अण् । (५) लभेत, पिबेत्, आराधयेत्—यहाँ इन तीनों में शक्यार्थ में विधिलिङ् लकार हुआ है । (६) पिपासार्दितः—प्यास से पीडित । पातुम् इच्छा पिपासा√पा+सन्+अ 'अ प्रत्ययात्' इति सूत्रेण, ततः टाप् । √अर्द्+क्त कर्मणि=अर्दितः । पिपासया अर्दितः (तृ० त०) । (७) मृगतृष्णिकासु—कड़ी धूप में रेतीले मैदानों में होने वाली जलधारा की मिथ्या प्रतीति को मृगतृष्णा कहते हैं । हरिण तथा अन्य पशु इनके लिए उस स्थान पर दौड़कर अपनी प्यास बुझाने के लिए जाते हैं, परन्तु वे अन्त में धोखा खाते हैं । मृगाणां तृष्णा यस्याम् इति मृगतृष्णा (ब० स०), मृगतृष्णा एव मृगतृष्णिका मृगतृष्णा+क स्वार्थे, 'प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' इति सूत्रेण इत्त्वम् । (८) पर्यटन्—घूमते-घामते हुए । परि√अट्+लट्—शतृ । (९) शशविषाणम्—खरहे का सींग । शशस्य विषाणः (ष० त०), तम् । इस प्रकार की असंभव वस्तुएँ निम्न श्लोक में बताई गई हैं—

> 'मृगतृष्णाम्भसि स्नातः खपुष्पकृतशेखरः ।
> एष वन्ध्यासुतो याति शशशृङ्गधनुर्धरः ॥ (सुरेश्वरवार्तिक)

अर्थात् मृगतृष्णा (अथवा 'कूर्मक्षीरचये' पाठान्तरपक्ष में 'कछुई के दूध की राशि में) स्नान करके आकाशकुसुम की माला पहन कर खरहे के सींग का बना धनुष लेकर यह वंध्या स्त्री का पुत्र जा रहा है ।

इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलंकार तथा पृथ्वी छन्द है ।

विशेष—इस पद्य के प्रथम द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में आठवें अक्षर पर विराम नहीं होता है, इसलिए यतिभ्रष्ट दोष है । यहाँ कुछ विद्वान् 'सिकता-सुतैलम्' एवं 'मृगतृष्णिकासुसलिलम्' यह एक पद मानते हैं ।

मूर्खों को सन्मार्ग पर लाना कठिन है—

> व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते
> भेत्तुं वज्रमणिं शिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते ।
> माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते
> मूर्खान्यः प्रतिनेतुमिच्छति बलात्सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः ॥६॥

अन्वयः—यः मूर्खान् बलात् सुधास्यन्दिभिः सूक्तैः प्रतिनेतुम् इच्छति, असौ बालमृणालतन्तुभिः व्यालम् रोद्धुम् समुज्जृम्भते; शिरीषकुसुमप्रान्तेन वज्रमणिम् भेत्तुम् सन्नह्यते; मधुबिन्दुना क्षाराम्बुधेः माधुर्यम् रचयितुम् ईहते ।

संस्कृत-व्याख्या—यः—नरः, मूर्खान्—विवेकशून्यान्, बलात्—हठात्, सुधास्यन्दिभिः—अमृतस्राविभिः, सूक्तैः—सुभाषितैः, प्रतिनेतुम्—अनुनेतुम्, इच्छति—वाञ्छति, असौ—नरः, बालमृणालतन्तुभिः—बालस्य कोमलस्य मृणालस्य बिसस्य तन्तुभिः सूत्रैः, व्यालं—दुष्टगजं, रोद्धुं—नियन्तुं, समुज्जृम्भते—प्रयतते, शिरीषकुसुमप्रान्तेन—शिरीषनामकपुष्पस्य प्रान्तेन अग्रभागेन, वज्रमणिं—हीरकाख्यमणिं, भेत्तुं—छेत्तुं, सन्नह्यते—बद्धपरिकरो भवति, मधुबिन्दुना—क्षौद्रबिन्दुना, क्षाराम्बुधेः—लवणसमुद्रस्य, माधुर्यं—मधुरतां, रचयितुं—सम्पादयितुम्, ईहते—कामयते ।

अनुवाद—जो अपनी अमृतवर्षिणी सूक्तियों द्वारा मूर्खों को बलात् प्रसन्न करना चाहता है, वह कोमल कमल-नाल के तन्तु से मदमत्त हाथी को बाँधना चाहता है, शिरीष पुष्प के किनारे से वज्रमणि हीरे को काटना चाहता है और खारे समुद्र को दो-एक बूँद मधु डाल कर मीठा बनाने की चेष्टा करता है ।

He who wishes to win over perforce the blockhead, by means of his nectar-pouring (ambrosial) wise sayings, tries to bind a wicked elephant with a tender fibre of a lotus-stalk; attempts to cut a diamond with the edge of a Sirisa flower: and strives to impart sweetness to the saltsea by means of one drop of honey.

संस्कृत-भावार्थ—यथा मृणालसूत्रैः गजबन्धनं दुष्करं, यथा शिरीषपुष्पधारया हीरकच्छेदनं दुष्करं, यथा मधुनो बिन्दुमात्रेण लवणसागरस्य मधुरीकरणं दुष्करं तथैव मधुरसूक्तिभिः मूर्खानुरञ्जनमपि अत्यन्तदुष्करम् ।

टिप्पणी (१) बलात्—हठपूर्वक । अत्र हेतौ पञ्चमी । (२) सुधास्यन्दिभिः—अमृत टपकाने वाले । सुधां स्यन्दन्ते इति सुधास्यन्दीनि सुधा + स्यन्द् + णिनि कर्तरि ताच्छील्ये, तैः । (३) सूक्तैः—सुन्दर वचनों से । शोभनानि उक्तानि इति सूक्तानि (प्रा० स०), तैः । करणे तृतीया । सु + वच् + क्त भावे = उक्तानि । (४) प्रतिनेतुम्—बहलाने या मनोरञ्जन करने के लिए । प्रति √

नी+तुमुन्। यह पाठभेद है—'नेतुं वाञ्छति यः खलान्पथि सतां' इत्यादि। (५) **बालमृणालतन्तुभिः**—कोमल कमल-नाल के सूत्रों से। बालं च तत् मृणालम् (कर्म० स०), तस्य तन्तवः (ष० त०), तैः करणे तृतीया। 'मृणालं बिसम्' इत्यमरः। (६) **व्यालम्**—मतवाला हाथी, दुष्ट गज। 'व्यालो दुष्ट-गजे सर्पे' इति विश्वः (७) **रोद्धुम्**—रोकने या बांधने के लिए। √रुध्+तुमुन्। रुध् धातु रुधादिगणीय उभयपदी है। इसके रूप—रुणद्धि—रुन्धे, रुरोध—रुरुधे, अरुधत्—अरौत्सीत्—अरुद्ध। (८) **शिरीषकुसुमप्रान्तेन**—शिरीष-पुष्प के छोर से। शिरीषस्य कुसुमम् (ष० त०) वा शिरीषं चेदं कुसुमम् (कर्म० स०), तस्य प्रान्तः (ष० त०), तेन। (९) **वज्रमणिम्**—हीरे को। वज्रः मणिः (कर्म० स०), तम्। (१०) **मधुबिन्दुना**—मधु की बूंद से। मधुनः बिन्दुः (ष० त०), तेन। करणे तृतीया। 'मधु क्षौद्रं माक्षिकादि' इत्यमरः। (११) **क्षाराम्बुधेः**—खारे समुद्र के। अम्बूनि धीयन्ते अस्मिन् इति अम्बुधिः अम्बु√धा+कि 'कर्मण्यधिकरणे च' इत्यनेन। क्षारः चासौ अम्बुधिः (कर्म० स०), तस्य। (१२) **माधुर्यम्**—मिठास को। मधुरस्य भावः माधुर्यम् मधुर+ष्यञ्।

विशेष—इस श्लोक में मालानिदर्शना अलंकार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द का लक्षण—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्'।

मूर्खों के लिए मौन रहना श्रेयस्कर है—

> **स्वायत्तमेकान्तहितं विधात्रा**
> **विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः।**
> **विशेषतः सर्वविदां समाजे**
> **विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ॥७॥**

अन्वयः—विधात्रा अपण्डितानां स्वायत्तम् एकान्तहितं मौनम् अज्ञतायाः छादनं विनिर्मितम्। (यत्) सर्वविदां समाजे विशेषतः विभूषणं भवति।

संस्कृत-व्याख्या—विधात्रा—ब्रह्मणा, अपण्डितानां—मूर्खाणां, स्वायत्तं—स्वाधीनम्, एकान्तहितं—नितान्तहितकारि, मौनं—तूष्णीम्भावः, अज्ञतायाः—मूर्खतायाः, छादनम्—आवरणम्, विनिर्मितं—रचितम्, (यत्) सर्वविदां—सर्वज्ञानां, समाजे—गोष्ठ्यां, विशेषतः—अधिकरूपेण, विभूषणम्—अलङ्करणं, भवति—जायते।

अनुवाद—विधाता ने मूर्खों के अपने हाथ में रहने वाले और अत्यन्त हितकारी मौन को मूर्खता के छिपाने का ढक्कन बनाया है, जो विद्वानों की सभा में विशेष रूप से आभूषण (स्वरूप) हो जाता है।

The Creator has created silence as a perpetually beneficial cover of ignorance in one's own power; under one's own control. Silence is an ornament for the fools especially in an assembly of the learned men.

संस्कृत-भावार्थ—मूर्खाणां कृते ब्रह्मणा मौनं मूर्खतायाः छादनं सर्वाधिसाधनं वा रचितम्। अतः मूर्खैः सर्वत्र विशेषतो विद्वत्समाजे मौनिभिः स्यातव्यम्। अन्यथा स्वरूपप्रकाशनेन तेषाम् उपहास्यास्पदता स्यात्।

टिप्पणी (१) विधाता—ब्रह्मा ने। वि√धा+तृच्=विधातृ, तेन। (२) अपण्डितानाम्—मूर्खों का। सदसद्विवेकबुद्धिः पण्डा, सा एषां संजाता इति पण्डिताः पण्डा+इतच् 'तदस्य संजातमिति तारकादिभ्यः इतच्' इत्यनेन। न पण्डिताः अपण्डिताः (नञ्तत्०), तेषाम्। (३) स्वायत्तम्—अपने अधीन। स्वस्य आयत्तम् (ष० त०)। 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः। (४) एकान्तहितम्—नितान्त हितकर। √धा+क्त=हितम्। एकः एव अन्तो यस्य (ब० स०), तत् यथा स्यात् तथा इति एकान्तम्। एकान्तं हितम् इति एकान्तहितम् (सुप्सुपा०)। (५) मौनम्—चुप रहना। मुनेर्भावः मौनम् मुनि+अण् 'इगन्तात् लघुपूर्वादण्' इत्यनेन (६) अज्ञतायाः—मूर्खता का। जानातीति ज्ञः √ज्ञा+क 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इत्यनेन, न ज्ञः अज्ञः (न० त०) तस्य भावः अज्ञता अज्ञ+तल्+टाप्. तस्याः। (७) छादनम्—ढक्कन या आवरण। छाद्यते अनेन इति छादनम् √छद्+णिच्+ल्युट्। (८) सर्वविदाम्—सब कुछ जानने वालों, विद्वानों के। सर्वं विदन्ति इति सर्वविदः सर्व√विद्+क्विप्, तेषाम्। (९) समाजे—समूह या सभा में। सम्√अज्—घञ्=समाजः=मनुष्याणां संघः। सम्√अज्+अप्=समजः=पशूनां संघः। 'समुदोरजः पशुषु' इत्यनेन अप्-प्रत्ययः। अज् धातु भ्वादिगणीय है। इसके रूप—अजति, विवाय, आजीत्—अवैषीत्। (१०) विशेषतः—अधिक करके। वि√शिष्+घञ्=विशेषः, विशेष+तस् 'सार्वविभक्तिकः तसिः' इत्यनेन (११) विभूषणम्—अलंकरण। विभूष्यते अनेन इति विभूषणम् वि√भूष+ल्युट् करणे।

विशेष—इस श्लोक में उपजाति छन्द है। छन्द का लक्षण—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः, उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ। अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ, पादौ यदीयावुपजातयस्ताः। इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम।'

विद्वानों के संग से वास्तविकता का ज्ञान—

> यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं गज इव मदान्धः समभवं
> तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
> यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं
> तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥८॥

अन्वयः—यदा अहम् किञ्चिज्ज्ञः सन् गज इव मदान्धः समभवम् तदा सर्वज्ञः अस्मि इति मम मनः अवलिप्तम् (अभूत्); यदा बुधजनसकाशात् किञ्चित् किञ्चित् अवगतम् तदा मूर्खः अस्मि इति मे मदः ज्वरः इव व्यपगतः।

संस्कृत-व्याख्या—यदा—यस्मिन् काले, अहम्, किञ्चिज्ज्ञः—अल्पज्ञः, सन्, गज इव—हस्ती इव, मदान्धः—मदेन दर्पेण अन्धः कर्तव्याकर्तव्यविवेकशून्यः, समभवम्—जातः, तदा—तस्मिन् काले, सर्वज्ञः—निखिलज्ञाता, अस्मि—विद्ये, इति, मम, मनः—चित्तम्, अवलिप्तं—गर्वपूर्णम् (अभूत्), यदा—यस्मिन् काले, बुधजनसकाशात्—विद्वज्जनेन सह समागमात्, किञ्चित्किञ्चित्—अल्पमल्पम्, अवगतं—ज्ञातं, तदा—तस्मिन् काले, मूर्खः—मूढः, अस्मि, इति (विचारेण), मे—मम, मदः—दर्पः, ज्वर इव—ताप इव, व्यपगतः—निर्गतः।

अनुवाद—जब मैं अल्पज्ञ होकर भी मतवाले हाथी के जैसा मदान्ध हो गया तब यह समझकर कि मैं सर्वज्ञ हूँ—सब कुछ जानता हूँ, मेरा मन आकाश पर चढ़ गया। जब मैं पण्डितों की संगति से थोड़ा-थोड़ा जानने लगा तब मैं अपने को मूर्ख समझने लगा और तब मेरा गर्व ज्वर के जैसा धीरे-धीरे हटने लगा।

When I knowing a little was blinded with pride like an infatuated elephant, then my mind was vain with the thought that I knew everything. When I had learnt little by little from the learned, then my pride disappeared like fever, at the thought I was a dunce.

संस्कृत-भावार्थ—अल्पज्ञोऽपि सन् यः आत्मानं सर्वज्ञं मत्वा गर्वं कुरुते स एव मूर्खः । एतादृश एवाहं पुरा आसम् । इदानीन्तु पण्डितानां संसर्गेण क्रमेण उन्मीलितनेत्रः सन् गर्वभारं शिरसः अवातारयम् ।

टिप्पणी—(१) किञ्चिज्ज्ञः—थोड़ा-सा जानने वाला । किञ्चित् जानाति इति किञ्चित्√ज्ञा+क 'आतोऽनुपसर्गे कः' इत्यनेन । (२) मदान्धः—गर्व से चूर, कर्तव्याकर्तव्य के विचार से शून्य । √मद्+अप् 'मदोऽनुपसर्गे' इत्यनेन=मदः । मदेन अन्धः (तृ० त०) (३) सर्वज्ञः—सब कुछ जानने वाला । सर्वं जानातीति सर्वज्ञः सर्व√ज्ञा+क अथवा सर्वेषां ज्ञः सर्वज्ञः (ष० त०) । (४) अवलिप्तम्—गर्व से भरा हुआ । अव√लिप्+क्त कर्मणि । 'अवलेपस्तु गर्वे स्याल्लेपने दूषणेऽपि च' इति कोषः (५) बुधजनसकाशात्—विद्वानों की संगति से । √बुध्+क 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इत्यनेन=बुधः । बुध एव जनः (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकल्प स०), तस्य सकाशम् (ष० त०), । तस्मात् । (६) किञ्चित् किञ्चित्—थोड़ा-थोड़ा । अत्र वीप्सायां द्विरुक्तिः । उक्ते कर्मणि प्रथमा । (२) व्यपगतः—नष्ट या दूर हो गया । वि-अप√गम्+क्त ।

विशेष—इस श्लोक में शिखरिणी छन्द है । छन्द का लक्षण—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' ।

श्रुति कहती है—'आचार्यवान् पुरुषो वेद' अर्थात् आचार्य से विद्या प्राप्त करो । गुरुमुख से श्रवण करने पर ही विद्या विवेकवर्धिनी होती है । अब यह गुरु-शिष्य परम्परा नष्ट होती जा रही है । इसी से बहुत पढ़-लिख लेने पर भी लोगों को विवेक नहीं होता है ।

नीच की नीचता—

> कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं
> निरुपमरसप्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम् ।
> सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते
> न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् ॥९॥

अन्वयः—श्वा कृमिकुलचितम् लालाक्लिन्नम् विगन्धि जुगुप्सितम् निरामिषम् नरास्थि निरुपमरसप्रीत्या खादन् पार्श्वस्थम् सुरपतिम् अपि विलोक्य न शङ्कते । क्षुद्रः जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् न गणयति ।

संस्कृत-व्याख्या—श्वा—कुक्कुरः, कृमिकुलचितं—कृमिकुलैः कीटसमूहैः चितं व्याप्तम्, लालाक्लिन्नं—लालया सृणीकया क्लिन्नम् आर्द्रं, विगन्धि—दुर्गन्धि, जुगुप्सितं—निन्दितं, निरामिषं—निर्मांसं, खरास्थि—गर्दभस्य अस्थि, निरुपमरसप्रीत्या—निरुपमा उपमानरहिता या रसप्रीतिः अथवा निरुपमः उपमानरहितः यः रसः स्वादः तत्र या प्रीतिः प्रेम तया, खादन्—भक्षयन्, पार्श्वस्थं—निकटस्थं, सुरपतिम्—इन्द्रम्, अपि, विलोक्य—दृष्ट्वा, न शङ्कते—न लज्जते। क्षुद्रः—नीचः, जन्तुः—प्राणी, परिग्रहफल्गुतां—स्वीकृतवस्तुनः तुच्छतां, न गणयति—न मनुते।

अनुवाद—कीड़ों से भरी, लार से भीगी, दुर्गन्धमय, हेय, निर्मांस, गदहे की हड्डी को बड़े चाव से चबाता हुआ कुत्ता अपने पास खड़े हुए इन्द्र को भी देख कर नहीं लजाता, परवाह नहीं करता। नीच अपनाई हुई वस्तु की तुच्छता की परवाह नहीं करता—स्वगृहीत वस्तु की क्षुद्रता पर ध्यान नहीं देता।

While crunching with great delight and unparalleled relish, an ass bone, fleshless, nauseating, stinking, clammed with saliva and covered with a swarm of worms, a dog does not blush to behold even Indra, the lord of gods standing near by. A mean wretch does not mind the worthlessness of his possessions or belongings.

संस्कृत-भावार्थ—यथा कीटैर्व्याप्तं निर्मांसं दुर्गन्धयुक्तं गर्दभस्य अस्थि लिहन् श्वा स्वसमीपस्थितं देवराजमपि दृष्ट्वा न लज्जते तथैव निन्दास्पदं कर्म कुर्वन् मूर्खोऽपि महतां विगर्हणात् न बिभेति।

टिप्पणी—(१) श्वा—कुत्ता। √श्वि+कनिन्। (२) कृमिकुलचितम्—कीड़ों से भरी हुई। कृमीणां कुलानि (ष० त०), तैः चितम् (तृ० त०)। √चि+क्त कर्मणि=चितम् (३) लालाक्लिन्नम्—लार से भीगी। 'सृणीका स्यन्दिनी लाला' इत्यमरः। लालया क्लिन्नम् (तृ० त०)। √क्लिद्+क्त कर्तरि। (४) विगन्धि—दुर्गन्ध से युक्त। विगतः गन्धः यस्य तत् विगन्धि (ब० स०), 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' इत्यनेन इत्वम्। (५) जुगुप्सितम्—निन्दित। √गुप्+सन् (स्वार्थे)—क्त कर्मणि (६) निरामिषम्—मांसरहित। निर्गतम् आमिषं यस्मात् तत् (प्रा० ब० स०)। (७) खरास्थि—गदहे की हड्डी। खरस्य अस्थि (ष० त०)। कहीं 'नरास्थि' पाठभेद मिलता है। (८) निरुपमरसप्रीत्या—

अनुपम रस के प्रेम से, बड़े चाव से। निः नास्ति उपमा यस्य स निरुपमः (प्रा० द० स०), निरुपमः रसः (कर्म० स०), निरुपमरसे प्रीतिः (स० त०), तया। हेतौ अथवा 'प्रकृत्यादिभ्यः' इति करणे तृतीया। (९) पार्श्वस्थम्—पास में खड़े हुए को। पार्श्वे तिष्ठति इति पार्श्वस्थः पार्श्व√स्था+क 'सुपि स्थः' इत्यनेन। (१०) सुरपतिम्—इन्द्र को। सुराणां पतिः सुरपतिः (ष० त०), तम्। (११) परिग्रहफल्गुताम्—स्वीकृत की हुई वस्तु की तुच्छता को। परि√ग्रह्+अप् 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' इति सूत्रेण=परिग्रहः। 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः। परिग्रहस्य फल्गुता (ष० त०), ताम्।

विशेष—इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास और अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकारों का संकर है। इसमें हरिणी छन्द है। छन्द का लक्षण—'नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता'।

विवेकहीनों का पतन—

> शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरम्
> महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।
> अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
> विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥१०॥

अन्वय—इयम् गङ्गा स्वर्गात् शार्वम् शिरः, पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरम्, उत्तुङ्गात् महीध्रात् अवनिम्, अवनेः च अपि जलधिम्, अधोऽधः स्तोकम् पदम् उपगता। अथवा विवेकभ्रष्टानाम् शतमुखः विनिपातः भवति।

संस्कृत-व्याख्या—इयं—पृथिव्यां दृश्यमाना, गङ्गा—भागीरथी, स्वर्गात्—देवलोकात्, शार्वं—शैवं, शिरः—मस्तकम्, पशुपतिशिरस्तः—शिवमस्तकात्, क्षितिधरम्—(हिमालयं नाम) पर्वतम्, उत्तुङ्गात्—अत्युच्चात्, महीध्रात्—पर्वतात्, अवनिम्—पृथ्वीम्, अवनेः—पृथिव्याः, च अपि, जलधिं—समुद्रम्, अधोऽधः—नीचात् नीचम्, स्तोकम्—अल्पम्, पदं—स्थानम्, उपगता—प्राप्ता। अथवा—आहोस्वित्, विवेकभ्रष्टानां—विवेकशून्यानां, शतमुखः—बहुविधः, विनिपातः—अधः पतनम्, भवति—जायते।

अनुवाद—गङ्गा स्वर्ग से शिव के मस्तक पर गिरीं। शिव के शिर से हिमालय पहाड़ पर, हिमालय से पृथ्वी पर और पृथ्वी पर से गिर कर समुद्र में जा मिलीं। इस तरह यह नीचे से नीचे गिरती गई। (वास्तव में बात यह है कि) जिनका विवेक भ्रष्ट हो गया है उनका पतन सैकड़ों प्रकार से होता है।

This Ganga, falling from heaven on the head of Shiva, from the head of the Lord of all beings on the mountain, from the lofty mountain on earth, from earth into the ocean; went (gradually) to lower and lower position. So downfally in hundred ways (lit. hundred-faced) overtakes those who have lost their discretion.

संस्कृत-भावार्थ—न मे प्रवाहवेगं कश्चित् सहिष्यते इति गर्वं धारयन्ती अविवेकिनी गङ्गा स्वर्गात् च्युता सती शिवमस्तकोपरि अपतत्, ततः हिमालयोपरि, ततः धरोपरि ततोऽपि समुद्रं गता। एवं सा नीचात् नीचं पदं प्राप्ता। यो हि जनो विवेकशून्यो भवति तस्यापि इत्थमेव बहुप्रकारम् अधःपतनं भवति।

टिप्पणी (१) गङ्गा—भारतवर्ष की पुण्यतोया प्रसिद्ध नदी। गम्यते ब्रह्मपदमनया गच्छतीति वा गङ्गा√गम्+गन्+टाप्। (२) स्वर्गात्—अत्र अपादाने पञ्चमी। (३) शार्वम्—शंकर के। शर्वस्य शिवस्य इदम् इति शार्वम् शर्व+अण्। 'ईश्वरः शर्व ईशानः' इत्यमरः। (४) पशुपतिशिरस्तः—शंकर के मस्तक से। पशूनाम् पतिः पशुपतिः (ष० त०), तस्य शिरः (ष० त०), तस्मात् (अपादाने पञ्चमी) पञ्चम्याः तसिः। (५) क्षितिधरम्—पर्वत, हिमालय। धरतीति धरः√धृ+अच् पचादित्वात्, क्षितेःधरः क्षितिधरः (ष० त०), तम्। (६) उत्तुङ्गात्—बहुत ऊँचे। (७) महीध्रात्—पर्वत से। महीं धरति इति महीध्रः मही√धृ+क 'मूलविभुजादिभ्यः कः' इत्यनेन। (८) अवनिम्—पृथ्वी को। (९) जलधिम्—समुद्र को। जलानि धीयन्ते अस्मिन् इति जलधिः जल√धा+कि 'कर्मण्यधिकरणे च' इत्यनेन, तम्। ये सभी द्वितीयान्त पद 'उपगता' के कर्म हैं। (१०) विवेकभ्रष्टानाम्—भ्रष्ट विचार वालों का। वि√विच्+घञ् भावे=विवेकः। √भ्रंश्+क्त कर्तरि=भ्रष्टः। भ्रष्टः विवेकः येषां ते भ्रष्टविवेकाः वा विवेकभ्रष्टाः (ब० स०) 'वाहिताग्न्यादिषु' इत्यनेन विवेकशब्दस्य पूर्वनिपातः। अथवा विवेकात् भ्रष्टाः विवेकभ्रष्टाः (पं० त०)।

गंगा को यह गर्व था कि मेरे प्रवाह के वेग को कोई भी सहन नहीं कर सकेगा और अपनी उत्ताल तरंगों में शिव को वहा ले जाऊँगी। इसी अविवेक का दंड उन्हें भोगना पड़ा कि नीचे से नीचे जाना पड़ा। इसी तरह जो अविवेकी होता है, उसकी यही गति होती है। (११, **विनिपातः**—अवःपतन। वि—नि√पत्+घञ्। (१२) शतमुखः—सैकड़ों प्रकार से। शतं मुखानि यस्य सः (व० स०)।

विशेष—इस श्लोक में पर्याय और अर्थान्तरन्यास अलंकार हैं तथा शिखरिणी छन्द है।

यहाँ पौराणिक कथा है कि प्राचीनकाल में राजा सगर के साठ हजार पुत्र यज्ञीय अश्व का अन्वेषण करते हुए पाताल में कपिल मुनि के आश्रम में पहुँचे, जहाँ इन्द्र ने उनके पिता के अश्वमेध यज्ञ के अश्व को अपहृत करके बाँध दिया था। अश्व को देखते ही उन अविवेकियों ने कपिलमुनि को चोर समझकर लात मारी। अनन्तर मुनि के कोपानल से वे दग्ध हो गए। उन्हीं दग्ध-पुरुषों का उद्धार करने के लिए सगर के पौत्र भगीरथ ने गंगा को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाने के लिए घोर तपस्या की। गंगा ने इस शर्त पर पृथ्वी पर आना स्वीकार किया कि मेरे प्रवाह के वेग को कोई सहन करे। भगीरथ ने आशुतोष शिव की आराधना करके उनसे गंगा के वेग को सहन करने की प्रार्थना की। शिव के स्वीकार कर लेने पर गंगा स्वर्ग से बड़े प्रवाह के साथ गिरीं, किन्तु शिव ने उन्हें अपनी जटा में समाहित कर लिया। पश्चात् पुनः भगीरथ की प्रार्थना पर शिव ने जब गंगा को मुक्त कर दिया तब वे हिमालय पर गिरीं। वहाँ से पृथ्वी पर और पृथ्वी से समुद्र में जाकर गिरीं। समुद्र को जाते समय उन्होंने सगर-पुत्रों की अस्थियों को छूकर उन्हें सद्गति प्रदान की।

मूर्खता की औषधि नहीं

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपः
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ।
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥११॥

अन्वयः—हुतभुक् जलेन वारयितुं शक्यः, सूर्यातपः छत्रेण, समदः नागेन्द्रः निशिताङ्कुशेन, गोगर्दभौ दण्डेन, भेषजसंग्रहैः व्याधिः, विविधैः मन्त्रप्रयोगैः विषम् च (वारयितुं शक्यते)। सर्वस्य शास्त्रविहितम् औषधम् अस्ति। मूर्खस्य औषधम् नास्ति।

संस्कृत-व्याख्या—हुतभुक्—अग्निः, जलेन—वारिणा, वारयितुं—शमयितुं, शक्यः—योग्यः, सूर्यातपः—सूर्यस्य रवेः आतपः घर्मः, छत्रेण—आतपत्रेण, समदः—मत्तः, नागेन्द्रः—गजेन्द्रः, निशिताङ्कुशेन—तीक्ष्णाङ्कुशेन, गोगर्दभौ—गौः वृषभः गर्दभः रासभः, दण्डेन—यष्टिप्रहारेण, भेषजसंग्रहैः—औषधिसेवनेन, व्याधिः—रोगः, विविधैः—नानाप्रकारैः, मन्त्रप्रयोगैः—विषोत्तारकमन्त्राणामावर्तनैः, विषं—गरलं, च (वारयितुं शक्यते)। सर्वस्य—सकलस्य, शास्त्रविहितं—शास्त्रकथितम्, औषधं—भेषजम्, अस्ति—विद्यते। मूर्खस्य—अज्ञस्य, औषधं, नास्ति।

अनुवाद—आग जल से बुझाई जा सकती है। सूर्य का ताप छाते से रोका जा सकता है, तीक्ष्ण अंकुश से मतवाला हाथी वशीभूत किया जा सकता है, गदहा और बैल भी डंडे से सीधे किये जा सकते हैं, रोग औषध-सेवन से हटाया जा सकता है, विष भी मंत्र-तंत्र से दूर किया जा सकता है। प्रत्येक वस्तु की दवा शास्त्र में विहित है, पर मूर्ख की दवा कुछ भी नहीं है।

It is possible to ward off fire with water and the heat of the sun with an umbrella. Possible it is to control a lordly elephant with a sharp goad and an infuriated bull and an ass with a cudgel. Illness can be prevented by taking medicines, and poison can be counteracted by the use of spells. Everything has got a medicine prescribed for it in the Shastras but there is no medicine (prescribed) for a fool.

संस्कृत-भावार्थ—अग्निः सूर्यातपः गजराजः गोगर्दभौ व्याधिः विषं च क्रमशः जलेन छत्रेण तीक्ष्णाङ्कुशेन दण्डेन औषधैः मन्त्रप्रयोगैः वारयितुं शक्यन्ते परं मूर्खबुद्धेर्निवारणं केनाप्युपायेन कर्तुं न शक्यते।

टिप्पणी—(१) हुतभुक्—अग्नि। हुतं होमद्रव्यं हविः भुङ्क्ते इति हुतभुक् हुत√भुज्+क्विप्। √हु+क्त कर्मणि=हुतम्। (२) जलेन—अत्र करणे

तृतीया । (३) शक्यः—योग्य । √शक्+यत् 'शकिसहोर्यत्' इत्यनेन । (४) सूर्यातपः—सूर्य की उष्णता, धूप । (५) समदः—मतवाला । मदेन सह वर्तमानः इति समदः (ब० स०) 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इत्यनेन, ततः 'वोपसर्जनस्य' इत्यनेन सहस्य सादेशः । (६) नागेन्द्रः—गजराज । न गच्छति इति नगः वा अगः पर्वतः 'नगोऽप्राणिषु अन्यतरस्याम्,' इति सूत्रेण विकल्पेन नलोपविधानात् । नगे भवाः नागाः नग+अण् । नागानाम् इन्द्रः (राजा) (ष० त०) वा नागेषु इन्द्रः (श्रेष्ठः) (स० त०) वा नागः इन्द्र इव (उपमित स०)। (७) निशिताङ्कुशेन—तीक्ष्ण अंकुश के द्वारा । निशितः अङ्कुशः (कर्म० स०), तेन । करणे तृतीया । नि√श्यो+क्त=निशित । (८) गोगर्दभौ—बैल और गधा । गौः च गर्दभः च इति गोगर्दभौ (द्व० स०) । (९) भेषजसंग्रहैः—ओषधियों के संग्रह या सेवन से । सम्√ग्रह्+अप्=संग्रहाः । भेषजानां संग्रहाः (ष० त०), तैः । (१०) विविधैः—अनेक प्रकार के । विभिन्नाः विधाः येषां ते विविधाः (प्रा० ब० स०), तैः । (११) मन्त्रप्रयोगैः—मंत्रों के प्रयोग से । मन्तारं त्रायन्ते रक्षन्ति इति मन्त्राः√मन्+त्रन् वा√मन्त्र्+घञ् वा अच् । मन्त्राणां प्रयोगाः (ष० त०), तैः । (१२) शास्त्रविहितम्—शास्त्र में बतलाई हुई । शास्+ष्ट्रन्=शास्त्र । वि√धा+क्त कर्मणि=विहित । शास्त्रे विहितम् (स० त०)वा शास्त्रेण विहितम् (तृ० त०) । (१३)औषधम्—ओषः पाकः धीयते अस्याम् इति ओष√धा+कि 'कर्मण्यधिकरणे च' इत्यनेन=ओषधिः । 'कृतिकारादक्तिनः' इति वार्तिकेन विकल्पेन ङीपि कृते 'ओषधी' इत्यपि रूपम् । ओषधिरेव औषधम् ओषधि+अण् स्वार्थे । (१४) मूर्खस्य—मूर्ख के लिए । अत्र 'अश्वस्य घासः' इति वत् तादर्थ्ये षष्ठी ।

विशेष—इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है । लक्षण श्लोक ७ में दे० ।

अथ विद्वत्पद्धतिः

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमा
विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः ।
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य सुधियस्त्वर्थं विनापीश्वराः
कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका न मणयो यैरर्घतः पातिताः ॥१२॥

अन्वयः—शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमाः विख्याताः कवयः यस्य प्रभोः विषये निर्धनाः वसन्ति; तत् वसुधाधिपस्य जाड्यम् । सुधियः तु अर्थं विना अपि ईश्वराः । यैः मणयः अर्घतः पातिताः (ते) कुपरीक्षकाः कुत्स्याः स्युः ।

संस्कृत-व्याख्या—शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः—शास्त्रैः व्याकरणादिभिः उपस्कृताः संस्कृताः शब्दाः वाचकाः तैः सुन्दराः रम्याः गिरः वाचः येषां तादृशाः, शिष्यप्रदेयागमाः—शिष्येभ्यः अन्तेवासिभ्यः प्रदेयाः प्रदातुं योग्याः आगमाः शास्त्राणि येषां तादृशाः, विख्याताः—सुप्रसिद्धाः, कवयः—विद्वांसः, यस्य, प्रभोः—प्रभुः, विषये—राज्ये, निर्धनाः—धनहीनाः, वसन्ति—तिष्ठन्ति, तत्—निर्धनत्वेनावस्थानं, वसुधाधिपस्य—पृथ्वीपतेः, जाड्यम्—मौर्ख्यं गुणग्राहिताराहित्यमिति यावत् अस्तीति शेषः । सुधियः—विद्वांसः, तु, अर्थं—धनं, विनापि—अन्तरेणापि, ईश्वराः—समर्थाः । यैः—रत्नपरीक्षकैः, मणयः—रत्नानि, अर्घतः—मूल्यतः, पातिताः—न्यूनतां प्रापिताः, (ते) कुपरीक्षकाः—कुत्सिताः परीक्षकाः, कुत्स्याः—निन्द्याः, स्युः—भवेयुः ।

अनुवाद—यह तो जड़ता उस राजा की है, जिसके राज्य में ऐसे-ऐसे प्रसिद्ध कवि धनहीन रहकर निवास करते हैं, जिनकी वाणी परम मनोहर और शास्त्रों के ज्ञान द्वारा परिष्कृत है और जिनका ज्ञान शिष्यमण्डली में वितरण करने योग्य है । सुधीगण तो धन के बिना भी महान् हैं, बड़े पूज्य हैं । मणि कुत्सित (खराब) नहीं; कुत्सित हैं वे रत्न-पारखी जो मणि को न पहचान कर, उसका मूल्य बहुत कम आंकते हैं ।

It is the folly of the King that renowned poets (learned men), whose *speech* is charming owing to use of words refined by the Shastras and whose knowledge is fit to be imparted to the disciples, live in poverty in his-kingdom. The learned are kings even without wealth. Jewels are not despicable, but the bad lapidaries are, by whom these jewels are undervalued.

संस्कृत-भावार्थ—यदि रत्नपरीक्षकाः रत्नानि मूल्यतः पातितानि कुर्युस्तर्हि ते एव निन्द्याः स्युः न तु रत्नानि, तथैव यदि राजानः विद्वज्जनमनोरथं न पूरयेयुस्तर्हि इदं तेषामेव कुत्सितत्वं न तु विदुषां; विद्वांसस्तु धनेन विनापि महान्तः एव ।

टिप्पणी—(१) शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः—शास्त्रों के ज्ञान से परिष्कृत शब्दों के द्वारा सुन्दर वाणी (बोलने) वाले। उप√कृ+क्त कर्मणि, 'उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु च' इति सूत्रेण सुडागमः भूषणेऽर्थे। इस सूत्र से चकारात् भूषण और समवाय के अर्थ में सुट् का आगम होता है। इस प्रकार उपस्कृत शब्द की सिद्धि हुई। शास्त्रैः उपस्कृताः (तृ० त०), शास्त्रोपस्कृताः शब्दाः (कर्म० स०), तैः सुन्दराः (तृ० त०), शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दराः गिरः येषां ते (ब० स०)। (२) शिष्यप्रदेयागमाः—जिनका पवित्र ज्ञान शिष्यों को देने योग्य है। √शास्+क्यप्, रत्व=शिष्य। प्र√दा+यत्=प्रदेय। आङ्√गम्+अप्=आगम। वेदादि शास्त्रों को आगम कहते हैं। यहाँ इसका तात्पर्य शास्त्रज्ञान से है। शिष्येभ्यः प्रदेयाः (च० त०), शिष्यप्रदेयाः आगमाः येषां ते (ब० स०)। (३) निर्धनाः—धनहीन। निर्गतं धनं येषां ते (प्रा० ब० स०) 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इत्यनेन। (४) वसुधाधिपस्य—राजा का। अधिपातीति अधिपः अधि√पा+क। वसुधायाः अधिपः (ष० त०), तस्य। (५) जाड्यम्—जडता, मूर्खता। जडस्य भावः जाड्यम् जड+ष्यञ्। (६) सुधियः—विद्वान्। सुष्ठु ध्यायन्ति इति सुधियः सु√ध्यै+क्विप्, 'ध्यायतेः सम्प्रसारणम्' इत्यनेन सम्प्रसारणम् इकारः। (७) ईश्वराः—विभूतिमान्, पूज्य। √ईश्+वरच् 'स्थेशभासपिसकसो वरच्' इत्यनेन। (८) कुपरीक्षकाः—बुरे परीक्षक। परि√ईक्ष्+ण्वुल्=परीक्षक। कुत्सिताः परीक्षकाः (प्रा० स०)। (९) कुत्स्याः—निन्दनीय। √कुत्स् (अवक्षेपणे चुरादि)+ण्यत्।

इस श्लोक में 'विद्वान् निर्धन होने पर भी विभूतिमान् है' इस कथन में विरोधाभास अलंकार है और श्लोक के अन्तिम चरण में दृष्टान्त अलंकार है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

विशेष—'सदाश्रयेण शोभन्ते पण्डिता वनिता लताः'। अतः राजा विद्वानों का सम्मान अवश्य करें, यह उक्त श्लोक का निगूढार्थ है।

विद्वानों का आदर करना चाहिए—

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा-
प्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम्।

कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः ! कस्तैः सह स्पर्धते ॥१३॥

अन्वयः—यत् (विद्याख्यम्) धनम् हर्तुः गोचरम् न याति, सर्वदा किम् अपि शम् पुष्णाति, अर्थिभ्यः अनिशम् प्रतिपाद्यमानम् पराम् वृद्धिम् प्राप्नोति, कल्पान्तेषु अपि निधनम् न प्रयाति, तत् विद्याख्यम् अन्तर्धनम् येषाम् (अस्ति) तान् प्रति हे नृपाः मानम् उज्झत, कः तैः सह स्पर्धते ।

संस्कृत-व्याख्या—यत्—विद्याख्यं, धनम्—अर्थः, हर्तुः—चोरस्य, गोचरं न याति—दृष्टिपथं नावतरति, सर्वदा—सदा, किमपि—अनिर्वचनीयं, शं—कल्याणं, पुष्णाति—प्रवर्धयति, अर्थिभ्यः—याचकेभ्यः शिष्येभ्य इति यावत्, अनिशं—सततं, प्रतिपाद्यमानं—दीयमानं, परां—परमां, वृद्धिम्—अभ्युदयं, प्राप्नोति—लभते, कल्पान्तेषु अपि—संसारप्रलयेषु अपि, निधनं—नाशं, न प्रयाति—न गच्छति, तत्, विद्याख्यं—विद्यानामकम्, अन्तर्धनम्—अभ्यन्तरस्यवित्तं, येषां—पुरुषाणाम् (अस्ति), तान्—विद्याधनान्, प्रति, (हे) नृपाः—(हे) राजानः !, मानम्—अहङ्कारम्, उज्झत—त्यजत । कः—नरः, तैः—विद्वद्भिः, सह—साकं, स्पर्धते—विगृह्णाति न कोऽपीत्यर्थः ।

अनुवाद—जो गुप्त विद्या-धन चोरों को नहीं दीख पड़ता, जो सर्वदा सुख की वृद्धि करता है, जो याचकों को देने पर भी सदा बढ़ता ही रहता है और जो कल्पान्त होने पर भी नष्ट नहीं होता, ऐसा विद्या-धन हे राजाओ ! जिन महापुरुषों के पास है, उनके प्रति घमण्ड करना छोड़िये, भूलकर भी घमण्ड न कीजिये । कौन उनकी बराबरी कर सकता है ?

The hidden treasure called learning does not become visible to a thief, always promotes unspeakable happiness, ever increases greatly when given to suppliants, and it is not destroyed even at the end of the life of the creation. O kings, cast away your pride, towards those people who have this treasure. Who can rival them ?

संस्कृत-भावार्थ—हे नृपाः ! विद्याधनम् अहार्यम् अक्षयं व्ययेन वर्धनशीलं वर्तते । ईदृग् धनं यैः पुरुषैरासादितं तान् प्रति अवहेलां मा गात, प्रत्युत ते युष्माभिः सादरं माननीयाः ।

टिप्पणी (१) हर्तुः—हरण करने वाले, चोर के। √हृ+तृच् कर्तरि=हर्ता, तस्य। (२) गोचरम्—प्रत्यक्ष, इन्द्रियों की पहुँच के भीतर। गावः चरन्ति अस्मिन् इति गोचरो देशः, चरागाह। गो का अर्थ इन्द्रिय भी है। तब अर्थ होगा—जहाँ इन्द्रियाँ पहुँच सकती हैं अर्थात् दृष्टिपथ पर आने वाला। गो√चर्+घ 'गोचरसंचर' इत्यादिना। (३) शं पुष्णाति—कल्याण को पुष्ट करता है या बढ़ाता है। पुष् धातु क्र्यादि है। इसके रूप—पुष्णाति, पुपोष, अपोषीत्। (४) अर्थिभ्यः—याचकों या विद्यार्थियों को। सम्प्रदाने चतुर्थी। (५) अनिशम्—निरन्तर। 'सततानारताश्रान्तसन्ततविरतानिशम्' इत्यमरः। (६) प्रतिपाद्यमानम्—दिया जाता हुआ। प्रति√पद्+णिच्+शानच्। (७) कल्पान्तेषु—कल्पान्त या प्रलय होने पर। कल्पानाम् अन्ताः (ष० त०), तेषु। यहाँ बहुवचन से यह दिखाया गया है कि कई कल्पों के अन्त हो जाने पर भी। विद्याधन की सर्वश्रेष्ठता अन्यत्र भी सुभाषित द्वारा प्रदर्शित की गई है—'न चोरहार्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि। व्यये कृते वर्धत एव नित्यं विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥' (८) विद्याख्यम्—विद्या नामक। विदन्ति अनया इति विद्या √विद्+क्यप्+टाप्। विद्या इति आख्या नाम यस्य तत् (ब० स०)। (९) अन्तर्धनम्—भीतरी धन, गुप्त धन। अन्तर्गतं धनम् (मध्य० स०)। (१०) उज्झत—त्याग दो। (११) स्पर्धते—स्पर्धा या होड़ करता है।

इस श्लोक में विद्याधन सब धनों से श्रेष्ठ है ऐसा प्रतिपादन करने के कारण व्यतिरेक अलंकार है और दूसरे चरण में 'दिये जाने पर भी बढ़ता ही है' ऐसे कथन में विरोधाभास अलंकार है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

विद्वानों को धन से वश में नहीं किया जा सकता—

अधिगतपरमार्थान्पण्डितान्मावमंस्था-
स्तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव तान्संरुणद्धि।
अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥१४॥

अन्वयः—(हे नृप!) अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् मा अवमंस्थाः, तृणम् इव लघुलक्ष्मीः तान् नैव संरुणद्धि। बिसतन्तुः अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानाम् वारणानाम् वारणम् न भवति।

संस्कृत-व्याख्या—(हे राजन् !) अधिगतपरमार्थान्—अधिगतः लब्धः परमार्थः तत्त्वज्ञानं यैः तादृशान्, पण्डितान्—विदुषः, मा अवमंस्थाः—मा अवमानय, तृणम् इव—घास इव, लघुलक्ष्मीः—लघुः तुच्छा लक्ष्मीः सम्पत्, तान्—पण्डितान्, नैव संरुणद्धि—रोद्धुं न शक्नोति । विसतन्तुः—कमलनाल-सूत्रम्, अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानाम्—अभिनवः नूतनः यो मदः दानं तस्य लेखाभिः धाराभिः श्यामानि कृष्णानि गण्डस्थलानि कपोलभित्तयो येषां तादृशानां, वारणानां—गजानां, वारणं—रोधकवस्तु, न भवति—न जायते ।

अनुवाद—तत्त्वज्ञान प्राप्त किये हुए पण्डितों का अनादर मत करो। तृण के समान तुच्छ लक्ष्मी उनको बाँध नहीं सकती। नवीन मदरेखा से जिन मातङ्गों के गण्डस्थल काले हो गये हैं उन मातंगों को बाँधने के लिये कमल के डंठल का सूत सीकर (जंजीर) नहीं हो सकता।

Do not disregard the learned who have attained the highest truth (about Brahma). Wealth that insignificant thing like a straw does not obstruct them. A lotus-fibre does not become a hindrance, (*i .e.* tether) to elephants whose temples are darkened with stream of fresh ichor.

संस्कृत-भावार्थ—हे नृप ! तव लघुलक्ष्मीः तत्त्वज्ञानिनः पुरुषान् वशीकर्तुं तथैव नार्हति यथा मृणालसूत्रं मत्तगजान् रोद्धुं न प्रभवति । अतस्त्वं विदुषो नापमानय ।

टिप्पणी—(१) **अधिगतपरमार्थान्**—जिन्हें तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया है ऐसे । परमः अर्थः परमार्थः (कर्म० स०), अधिगतः परमार्थः यैः ते अधिगतपरमार्थाः (ब० स०), तान् । (२) **मा अवमंस्थाः**—अपमान मत करो । अव√मन्+लुङ् 'माङि लुङ्' इत्यनेन, 'न माङ्योगे' इत्यनेन अडागमनिषेधः । मन् धातु दिवादिगणीय आत्मनेपदी है । इसके रूप—मन्यते, मेने, अमंस्त । (३) **लघुलक्ष्मीः**—क्षुद्र संपत्ति ।√लक्ष्+ई, मुट् आगम=लक्ष्मीः । लघुः वा लघ्वी लक्ष्मीः (कर्म० स०) । **विसतन्तुः**—कमल के डंठल का सूत । 'मृणालं बिसम्' इत्यमरः । विसस्य तन्तुः (ष० त०) । (४) **अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानाम्**—नवीन मद की लकीरों से काले गण्डस्थल वाले । अभिनवः मदः (कर्म० स०), तस्य लेखाः (ष० त०), ताभिः श्यामानि (तृ० त०), तादृशानि गण्डस्थलानि

येषां ते (ब० स०), तेषाम् । प्रशस्ताः गण्डाः इति गण्डस्थलानि (नित्यसमासः) अथवा गण्डानां स्थलानि (ष० त०) (५) वारणानाम्—हाथियों का । 'कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः (६) वारणम्—निरोधक वस्तु या बंधन ।

इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार है, क्योंकि 'लक्ष्मीः तान् नैव संरुणद्धि; वारणानां वारणं न भवति' इस प्रकार दो पृथक्-पृथक् वाक्यों में समानता दिखाई गई है। इसमें मालिनी छन्द है। छन्द का लक्षण—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः'।

विद्वानों के गुणों का अपहरण नहीं होता—

अम्भोजिनीवनविहारविलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता ।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्ध्यकीर्त्तिमपहर्तुमसौ समर्थः ॥१५॥

अन्वयः—विधाता कुपितः सन् हंसस्य अम्भोजिनीवनविहारविलासम् एव नितराम् हन्ति । तु असौ अस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धाम् वैदग्ध्यकीर्त्तिम् अपहर्तुम् न समर्थः ।

संस्कृत-व्याख्या—विधाता—ब्रह्मा, कुपितः—क्रुद्धः, (सन्) हंसस्य—मरालस्य, अम्भोजिनीवनविहारविलासम् एव—अम्भोजिनीवने कमलिनीवने विहारः क्रीडा एव विलास आनन्द इति यावत् तमेव, नितराम्—अतिशयेन, हन्ति—नाशयति, तु—पुनः, असौ—विधाता, अस्य—हंसस्य, दुग्धजलभेदविधौ—क्षीरनीरविवेकविषये, प्रसिद्धां—विख्यातां, वैदग्ध्यकीर्तिं—चातुर्ययशः, अपहर्तुं—नाशयितुं, न समर्थः—न क्षमः ।

अनुवाद—विधाता क्रुद्ध होकर हंसों के कमल-वन में विचरण करने के सुख को एकदम नष्ट कर सकता है। पर उसके दूध और पानी को अलग-अलग करने वाले गुण को नहीं छीन सकता।

The Creator being angry can destroy entirely the luxury of the swan in sporting in the forest of lotuses, but he cannot rob the swan of his famous reputation for the native instruct of differentiating milk from water.

संस्कृत-भावार्थ—कुपितो ब्रह्मा हंसस्य पद्मिनीवनविलासमेव नाशयितुं शक्नोति न तु तस्य नीरक्षीरविवेकिनी चातुर्यकीर्तिम्, तथैव कुपितो राजा विदुषः स्वराज्यात् विवासयितु शक्नोति, परन्तु तेषां परिशीलनचातुर्यं हर्तुं न शक्नोति।

टिप्पणी—(१) विधाता—ब्रह्मा। वि√धा+तृच् (२) अम्भोजिनीवनविहार-विलासम्—कमलिनियों के वन में विहार करने का सुख। वि√हृ=घञ् भावे=विहारः। वि√लस्+घञ् भावे=विलासः। विहार एव विलासः (मयूरव्यंसकादित्वात् स०) अम्भोजिनीनां वनम् (ष० त०), तस्मिन् विहारः (स० त०), तस्य विलासः (ष० त०), तम्। (३) नितराम्—एकदम। नि+तरप्, आम् 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' इत्यनेन। यह 'हन्ति' तथा 'कुपितः' दोनों का क्रियाविशेषण हो सकता है। (४) दुग्धजलभेदविधौ—दूध और जल को अलग-अलग कर देने के सम्बन्ध में। दुग्धं च जलं च इति दुग्धजले (द्व० स०), तयोः भेदः (ष० त०), तस्य विधिः (ष० त०), तस्मिन्। विषयाधिकरणे सप्तमी। (५) प्रसिद्धाम्—विख्यात। प्र√सिध्+क्त+टाप्, ताम्। (६) वैदग्ध्यकीर्तिम्—चतुराई के यश को। वि√दह्+क्त=विदग्ध। विदग्धस्य भावः वैदग्ध्यम् विदग्ध+ष्यञ्। 'कृत्यवस्तुषु चातुर्यं वैदग्ध्यं परिकीर्त्यते'। वैदग्ध्येन कीर्तिः (तृ० त०), ताम्।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है, क्योंकि यहाँ प्रस्तुत विद्वान् के रहते तत्तुल्य अप्रस्तुत हंस का वर्णन किया गया है। इसमें वसन्ततिलका छन्द है। 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः'।

वाणी सबसे बड़ा आभूषण है—

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं, हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्तेऽखिलभूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥१६॥

अन्वयः—न केयूराणि, न चन्द्रोज्ज्वलाः हाराः, न स्नानम्, न विलेपनम्, न कुसुमम्, न अलंकृताः मूर्धजाः, पुरुषं भूषयन्ति। या संस्कृता धार्यते, सा एका पुरुषम् समलङ्करोति। अखिलभूषणानि क्षीयन्ते, वाग्भूषणं सततं भूषणम्।

संस्कृत-भावार्थ—न, केयूराणि—अङ्गदानि, न, चन्द्रोज्ज्वलाः—चन्द्र इव उज्ज्वलाः धवलाः, हाराः—मुक्ताहाराः, न, स्नानम्—अभिषेकः, न, विलेपनं—चन्दनलेपनं, न, कुसुमं—पुष्पम्, न, अलंकृताः—भूषिताः, मूर्धजाः—केशपाशाः, पुरुषं—मनुष्यं, भूषयन्ति—अलङ्कुर्वन्ति। या, वाणी—वाक्, संस्कृता—परिष्कृता, धार्यते—मुखे स्थाप्यते, (सा) एका—केवला, पुरुषं—नरं, समलङ्करोति—विभूषयति। अखिलभूषणानि—समस्तालङ्काराः, क्षीयन्ते—कालक्रमेण नश्यन्ति, वाग्भूषणं—वाणीभूषणं, सततम्—अविरतम्, भूषणम्—आभूषणम् (अस्ति)।

अनुवाद—बांह पर बिजौटा पहनने से मनुष्य की शोभा नहीं होती, और न चन्द्रमा के जैसे कान्तिमान मुक्ताहार पहनने ही से। न स्नान करने से, न चन्दनादि अंगराग लगाने से, न पुष्पमाला धारण करने से और न केशपाशों को सजाने ही से उसकी शोभा होती है। सुसंस्कृत वाणी ही एक वस्तु है जो मनुष्य को सुशोभित करती है। और सब भूषण तो नष्ट हो जाते हैं। वाणीरूपी भूषण ही सदा बना रहता है, कभी नष्ट नहीं होता।

Bracelets do not beautify a man, nor the necklaces bright like the moon; nor bath, nor sandal-besmearing, nor flower, nor the well-dressed locks, speech alone, garbed in a refined form, beautifies a person. All other ornaments wear away, the ornament of speech is the real everlasting ornament.

संस्कृत-भावार्थ—अङ्गदानि हाराः स्नानं विलेपनं पुष्पं भूषितकुन्तलाश्च पुरुषं तथा न भूषयन्ति यथा व्याकरणशुद्धिभूषिता एका वाणी तं भूषयति। अपरं च, समस्तान्याभूषणानि कालक्रमेण नश्यन्ति किन्तु वाणीभूषणं सदा अनपायि तिष्ठति।

टिप्पणी—(१) केयूराणि—बाजूबंद। के बाहुशिखरे यान्ति इति केयूराणि के√या+उर, कित्, अलुक् स०। 'केयूरमङ्गदं तुल्ये' इत्यमरः। (२) चन्द्रोज्ज्वलाः—चन्द्रमा के समान धवल। उद्√ज्वल्+अच् पचादित्वात्=उज्ज्वल। चन्द्रः इव उज्ज्वलः (उपमित स०) 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इत्यनेन, ते। (३) मूर्धजाः—बाल। मूर्ध्नि जायन्ते इति मूर्धजाः मूर्धन्√जन्+ड, उपपद स०। (४) संस्कृता—परिष्कृत, व्याकरण आदि से शुद्ध। सम्√कृ+क्त+टाप्, 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे सुट्' इत्यनेन (५) अखिलभूषणानि—सभी गहने। न√खिल्+क, (नञ् त०)=अखिल। √भूष्+ल्युट् करणे=भूषण। अखिलानि

भूषणानि (कर्म० स०)। (६) वाग्भूषणम्—वाणी रूपी भूषण। वाक् एव भूषणम् (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकल्प स०)। (७) सततम्—स्थायी या नित्य। सम्√तन्+क्त कर्तरि, 'समो वा हिततततयोः' इति कारिकया मलोपः।

इस श्लोक में अन्य आभूषणों की अपेक्षा वाणी रूपी आभूषण अधिक स्थायी है, ऐसा कथन होने से व्यतिरेक अलंकार है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

विद्या की महिमा—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते, नहि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥१७॥

अन्वयः—विद्या नाम नरस्य अधिकम् रूपम् (अस्ति), प्रच्छन्नगुप्तम् धनम् (अस्ति), विद्या भोगकरी यशःसुखकरी (अस्ति), विद्या गुरूणाम् गुरुः (अस्ति), विद्या विदेशगमने बन्धुजनः (अस्ति), विद्या परा देवता (अस्ति)। विद्या राजसु पूज्यते, धनम् नहि पूज्यते। विद्याविहीनः (नरः) पशुः (अस्ति)।

संस्कृत-व्याख्या—विद्या—शास्त्रादिज्ञानं, नाम—प्राकाश्ये अभ्युपगमे वा, नरस्य—मनुष्यस्य, अधिकं—श्रेष्ठं, रूपम्—आकारविशेषः (अस्ति), प्रच्छन्नगुप्तं—प्रच्छन्नं निगूढं गुप्तं रक्षितं च, धनं—सम्पत्तिः (अस्ति), विद्या, भोगकरी—भोग्यवस्तुलाभहेतुः, यशःसुखकरी—कीर्तिसुखहेतुः (अस्ति), विद्या, गुरूणाम्—आचार्याणां, गुरुः—आचार्यः (अस्ति), विद्या, विदेशगमने—परदेशयात्रायां, बन्धुजनः—सुहृज्जनः (अस्ति), विद्या, परा—उत्कृष्टा, देवता—देवस्वरूपा (अस्ति), विद्या, राजसु—नृपेषु, पूज्यते—आद्रियते। विद्याविहीनः—विद्यया विहीनः रहितः (नरः), पशुः—पशुसदृशः (अस्ति)।

अनुवाद—विद्या ही मनुष्य की सब से बड़ी सुन्दरता है, यही उसका छिपा हुआ सुरक्षित धन है, विद्या ही भोग-विलास देने वाली, यश और सुख देने वाली तथा गुरुओं का भी गुरु है; विदेश में विद्या ही मित्र बनता है, विद्या परम देवता है, राजाओं के बीच में विद्या ही पूजी जाती है, धन नहीं पूजा जाता। विद्याविहीन मनुष्य पशु के समान है।

Learning, is verily the greatest beauty for man. It is a well-protected hidden treasure. Learning promotes one's pleasure, and conduces to one's fame and happiness. Learning is the preceptor of the preceptors. Learning is a friend in foreign journey. It is the highest god. Learning is honoured among kings, and not wealth. One devoid of learning is a beast.

संस्कृत-भावार्थ—विद्या नरस्य श्रेष्ठं रूपम्, गुप्तं धनं, स्रक्चन्दनवनितादि-भोग्यपदार्थान् प्रस्तौति, प्रवासे बन्धुरिव हितकारिका, परमा देवता, राजसम्मानं दापयति । एवंविधविद्यया शून्यो जनः पशुतुल्यो भवति ।

टिप्पणी—(१) **विद्या**—विदन्ति अनया इति विद्या√विद्+क्यप्+टाप् । (२) **नाम**—यह अव्यय शब्द है । प्राकाश्य अर्थ में—'जैसा कि सर्वविदित है' अथवा स्वीकार अर्थ में—'वस्तुतः या सचमुच मैं स्वीकार करता हूँ'—इसका प्रयोग हुआ है । 'नाम प्राकाश्यसंभाव्यक्रोधोपगमकुत्सने' इत्यमरः । (३) **प्रच्छन्नगुप्तम्**—छिपा हुआ सुरक्षित । प्र√छद्+क्त कर्मणि=प्रच्छन्न । √गुप्+क्त कर्मणि=गुप्त । प्रच्छन्नं च तत् गुप्तं च इति प्रच्छन्नगुप्तम् (विशेषणोभयपद कर्म० स०) 'खञ्जकुब्जः' की तरह । अथवा प्रच्छन्नं यथा गुप्तम् । इसमें 'प्रच्छन्नं' क्रियाविशेषण है, जो 'गुप्तम्' की विशेषता प्रकट करता है । (४) **भोगकरी**—भोग्य वस्तु की प्राप्ति में हेतु अर्थात् भोग को प्रदान करने वाली । भोगान् करोति इति भोग√कृ+ट कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इत्यनेन, ततः 'टिड्ढाणञ्'—इत्यादिना ङीप् । (५) **यशःसुखकरी**—यश और सुख प्रदान करने वाली । यशश्च सुखं च इति यशःसुखे (द्व० स०) ते करोति इति यशः-सुख√कृ+ट+ङीप् । (६) **गुरूणां गुरुः**—गुरुओं का भी गुरु । गृणन्ति हितम् उपदिशन्ति इति गुरवः √गॄ+कु । 'गुरूणाम्' में 'यतश्च निर्धारणम्' सूत्र से षष्ठी हुई । यहाँ 'गुरुः' स्त्रीलिंग में प्रयुक्त है । गुरुशब्द के दो स्त्रीलिंग रूप होते हैं—'गुर्वी' और 'गुरुः' । इसका कारण है—'वोतो गुणवचनात्' सूत्र से ङीप् विकल्प से होता है । (७) **बन्धुजनः**—बन्धु । बध्नाति मनः स्नेहात् इति बन्धुः√बन्ध्+उ (उणादि) । (८) **राजसु पूजिता**—राजाओं के विषय में अर्थात् राजाओं से पूजित । विषयाधिकरणे सप्तमी । यहाँ 'क्तस्य च वर्तमाने' सूत्र से षष्ठी होनी चाहिए । तब 'राज्ञः पूजिता' पाठ होगा । इसलिए इसे समस्त

पद मानकर 'राजसुपूजिता पाठ मानना अच्छा होगा। (६) विद्याविहीनः—विद्या से रहित। वि√हा (ओहाक् त्यागे)+क्त कर्मणि =विहीनः। विद्यया विहीनः (तृ० त०)।

इस श्लोक में उपमान और उपमेय में अभेद होने के कारण रूपक अलंकार है और यहाँ अनेक रूपक होने से मालारूपक है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

विद्या की प्रधानता की उदाहरणों द्वारा पुष्टि—

क्षान्तिश्चेत्कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम्
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्यानवद्या यदि
व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ॥१८॥

अन्वयः—देहिनाम् क्षान्तिः चेत् (अस्ति) कवचेन किम्। क्रोधः चेत् अस्ति अरिभिः किम्? ज्ञातिः चेत् (अस्ति) अनलेन किम्? यदि सुहृत् (अस्ति) दिव्यौषधैः किं फलम्। यदि दुर्जनाः (सन्ति) सर्पैः किम्? यदि अनविद्या विद्या (अस्ति) धनैः किम्? व्रीडा चेत् (अस्ति) भूषणैः किम्? यदि सुकविता अस्ति, (तर्हि) राज्येन किम्?

संस्कृत-व्याख्या—देहिनां—प्राणिनाम्, क्षान्तिः—क्षमा, चेत्—यदि, (अस्ति तर्हि) कवचेन—कर्मणा, किम्—को लाभः? क्रोधः—कोपः, चेत्, अस्ति—विद्यते, (तर्हि) अरिभिः—शत्रुभिः, किम्? ज्ञातिः—दायादः, चेत् (अस्ति तर्हि) अनलेन—अग्निना, किम्? यदि—चेत्, सुहृत्—मित्रम् (अस्ति तर्हि) दिव्यौषधैः—सिद्धौषधैः, किं फलम्—किम्प्रयोजनम्? यदि—चेत्, दुर्जनाः—खलाः (सन्ति तर्हि), सर्पैः—भुजङ्गैः, किम्? यदि, अनवद्या—अनिन्द्या, विद्या—ज्ञानम्, (अस्ति तर्हि) धनैः—वित्तैः, किम्? व्रीडा—लज्जा, चेत् (अस्ति तर्हि), भूषणैः—अलङ्कारैः, किम्? यदि, सुकविता—सुन्दरं कवित्वम्, अस्ति, (तर्हि) राज्येन—भूमण्डलाधिपत्येन, किम्?

अनुवाद—यदि मनुष्य के पास क्षमा है तो कवच की क्या आवश्यकता? यदि क्रोध है तो शत्रुओं की क्या कमी? यदि सगे-सम्बन्धी लोग हैं तो अग्नि का क्या प्रयोजन? यदि मित्र हैं तो उत्तम ओषधियों का क्या प्रयोजन? यदि

(साथ में) दुष्ट लोग हैं तो साँपों की क्या आवश्यकता ? यदि निष्कलंक विद्या है तो धन की क्या आवश्यकता ? यदि (मनुष्य में) लज्जा है तो आभूषणों का क्या प्रयोजन ? यदि काव्य करने की शक्ति है तो राज्य की क्या आवश्यकता ?

If men have forgiveness, what is the use of armour (to them), if they have anger, why should they require enemies ? If there are relations what is the necessity of fire ? If there is friend, what is the use of the efficacious medicines ? If there are villains, what is the use of serpents ? If there is flawless learning, what is the necessity of wealth ? What is the use of ornaments (to men) if they have the sense of modesty ? If they have sweet poetry, what have they to do with a kingdom ?

संस्कृत-भावार्थ—क्षमाशीलानां पुरुषाणां कृते कवचस्य नावश्यकता। अनर्थकारके क्रोधे विद्यमाने शत्रवः किं नाम तस्मादधिकमनर्थं कर्तुं शक्नुयुः ? स एव क्रोधः अन्तःशत्रुत्वात् उपद्रवहेतुः। दायादाः अग्निवत् सन्तापयन्ति। हितकारिणि मित्रे सति हितप्राप्त्यर्थं दिव्यौषधसेवनं निष्फलमेव, मित्रमेव आरोग्यकरम्। प्राणहतो नाम सर्पाणां कार्यं दुर्जनैरेव क्रियते, अतो दुर्जनेषु सत्सु सर्पाणां आवश्यकता का ? खला एव प्राणापहारिणः। सर्वार्थसाधिकायामनवद्यायां विद्यायां सत्यां धनस्य किं प्रयोजनं स्यात् ? विद्या एव अखिलभोगकरी। व्रीडायां विद्यमानायां भूषणानां प्रयोजनमेव किम् ? सा एव लोकोत्तरभूषणम्। सत्कवितागुणे सति नाने राज्यं व्यर्थमेव, यतो हि सत्कविता एव सकललोकवशीकरी।

टिप्पणी—(१) देहिनाम्—प्राणियों के। देह+इनिः=देहिनः, तेषाम्। शेषे षष्ठी। (२) क्षान्तिः—क्षमा। √क्षम्+क्तिन् भावे। (३) कवचेन किम्—कवच से क्या लाभ। यहाँ 'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' इस नियम से करण में तृतीया हुई, क्योंकि साधनक्रिया गम्यमान है, जिसके प्रति कवच करण है। कवचेन किं साध्यते न किमपीत्यर्थः। इसी प्रकार 'अरिभिः', 'अनलेन', 'औषधैः', 'सर्पैः', 'धनैः', भूषणैः' में भी करणे तृतीया है। (४) ज्ञातिः—सगे-सम्बन्धी, दायाद। ये लोग अग्नि के समान उत्तापक होते हैं। √ज्ञा+क्तिच् कर्तरि=ज्ञातिः। (५) सुहृत्—मित्र। शोभनं हृदयं यस्य सुहृद् (प्रा० ब० स०), 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इत्यनेन हृदयस्य हृद्भावः। (६) अनवद्या—अनिन्द्य, निष्कलंक। अ√वद्+यत् 'अवद्यपण्यवर्यागर्ह्यपणित-

ष्यानिरोधेषु' इत्यनेन, टाप्=अवद्या, न अवद्या अनवद्या (न० त०)। (७) सुकविता—सुन्दर कविता या रचना-शक्ति। कवयति वर्णयति इति कविः √कव्+इन्। शोभनः कविः सुकविः (प्रा० स०), सुकवेर्भावः सुकविता सुकवि+तल्+टाप्। (८) राज्येन किम्—राज्य से क्या लाभ। राज्ञः भावः कर्म वा राज्यम् राजन्+यक्।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

विशेष—यहाँ कवि ने क्षान्ति आदि के द्वारा कवच आदि की व्यर्थता बताकर धन की गौणता और विद्या की मुख्यता स्थापित की है।

लोक-व्यवहार के लिए उचित मर्यादा आवश्यक है—

दाक्षिण्यं स्वजने दया परिजने शाठ्यं सदा दुर्जने
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जने आर्जवम्।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने कान्ताजने धृष्टता
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥१६॥

अन्वय—स्वजने दाक्षिण्यम्, परिजने दया, दुर्जने सदा शाठ्यम्, साधुजने प्रीतिः, नृपजने नयः, विद्वज्जने आर्जवम्, शत्रुजने शौर्यम्, गुरुजने क्षमा, कान्ताजने धृष्टता, एवम् कलासु ये च पुरुषाः कुशलाः तेषु एव लोकस्थितिः अस्ति।

संस्कृत-व्याख्या—स्वजने—बन्धुजने, दाक्षिण्यं—छन्दानुवर्तनम् औदार्यं वा, परिजने—भृत्यवर्गे, दया—कृपा, दुर्जने—दुष्टेषु, सदा—सर्वदा, शाठ्यं—शठता, साधुजने—सज्जनेषु, प्रीतिः—स्नेहः, नृपजने—राजसु, नयः—नीतिः नीतिपालनमिति यावत्, विद्वज्जने—पण्डितवर्गे, आर्जवं—सरलता, शत्रुजने—अरिषु, शौर्यं—विक्रमः, गुरुजने—पित्रादिषु, क्षमा—सहनशीलता, कान्ताजने—स्त्रीषु, धृष्टता—प्रागल्भ्यम्, एवम्—इत्थं, कलासु—शिल्पेषु, ये च, पुरुषाः—मनुष्याः, कुशलाः निपुणाः (सन्ति), तेषु—पुरुषेषु, एव, लोकस्थितिः—लोकमर्यादा अवतिष्ठते इति शेषः।

अनुवाद—जो अपने लोगों पर अनुकूलता दिखाते, नौकर-चाकरों पर दया दिखाते, दुष्टों के साथ शठता का व्यवहार करते, साधुओं से प्रीति करते, राजाओं के प्रति नीति के साथ बर्ताव करते, विद्वानों के प्रति सिधाई से पेश आते, शत्रुओं

के प्रति वीरता दिखाते, अपने गुरुजनों के प्रति सहनशीलता दिखाते, अपनी कान्ता के प्रति ढिठाई दिखाते, इस तरह से जो लोग वर्णित कलाओं में निपुण होते हैं उन्हीं के ऊपर लोकमर्यादा, लोकस्थिति का भार रहता है।

The stability of the social order solely depends upon those men who are thus expert in the following fine arts—courtesy towards their relations, kindness towards attendants, cunning always towards the wicked, affection for the good, diplomacy towards kings, simplicity or straightforwardness towards the learned, bravery towards enemies, forbearance or endurance towards elders; boldness towards beloved women.

संस्कृत-भावार्थ—ये पुरुषाः बन्धुवर्गे दाक्षिण्यं, भृत्यवर्गे दयां, दुर्जने शाठ्यं, साधुजने प्रीतिं, शासकवर्गे नीतिप्रयोगं, विद्वत्सु सरलतां, शत्रुषु विक्रमं, गुरुषु सहनशीलतां, स्त्रीषु धूर्ततां विदधति त एव लोकव्यवस्थासंस्थापकाः भवन्ति अर्थात् एवंभूता विद्वांस एव लोकान् विनयं शिक्षयितुं प्रभवन्ति।

टिप्पणी—(१) स्वजने—बन्धुओं के प्रति। स्वस्य जनः (ष० त०) वा स्व. जन. (कर्म० स०), तस्मिन्। विषयाधिकरणे सप्तमी। जातौ एकवचनम्। इस प्रकार 'परिजने', 'दुर्जने' आदि में भी समझना चाहिए। (२) दाक्षिण्यम्—अनुकूलता या उदारता। दक्षिणस्य भावः दाक्षिण्यम् दक्षिण+ष्यञ्। (३) दया—√दय्+षङ्+टाप्। (४) शाठ्यम्—शठता। शठस्य भावः शाठ्यम् शठ+ष्यञ्। (५) साधुजने—साधुः जनः (कर्म० स०) अथवा साधुः एव जनः (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकरूपः समासः)। (६) नयः—नीति। √नी+अच्। (७) आर्जवम्—सिधाई। ऋजोः भाव. आर्जवम् ऋजु+अण्। (८) शौर्यम्—वीरता। शूरस्य भावः शौर्यम् शूर+ष्यञ्। (९) कान्ताजने धृष्टता—स्त्रियों के साथ धृष्टता। कहीं 'नारीजने धूर्तता' पाठ है। (१०) लोकस्थितिः—लोगों की स्थिति अर्थात् सामाजिक नियमों की स्थिरता। लोकस्य स्थितिः (ष० त०)।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

सत्संग की महिमा—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥६०॥

अन्वय—(सत्संगतिः) धियः जाड्यम् हरति, वाचि सत्यम् सिञ्चति, मानोन्नति दिशति, पापम् अपाकरोति, चेतः प्रसादयति, दिक्षु कीर्त्तिम् तनोति, कथय सत्संगतिः पुंसाम् किम् न करोति ?

संस्कृत-व्याख्या—(सत्संगतिः) धियः—बुद्धेः, जाड्यं—मान्द्यं, हरति—नाशयति, वाचि—वाण्यां, सत्यं—सूनृतभावं, सिञ्चति—क्षरति, मानोन्नतिम्—आदरस्य वृद्धि, दिशति—प्रयच्छति, पापं—पाप्मानम्, अपाकरोति—दूरीकरोति, चेतः—चित्तं, प्रसादयति—निर्मलयति, दिक्षु—दिशासु, कीर्तिं—यशः, तनोति—विस्तारयति, कथय—ब्रूहि, सत्संगतिः—सत्संगः, पुंसां—पुरुषाणां, किं (कार्यं), न करोति—न साधयति ?

अनुवाद—सत्संगति बुद्धि की जड़ता हरती है, वाणी में सत्यता सींचती है, मान बढ़ाती है, पाप को दूर भगाती है, मन को प्रसन्न करती है, सब दिशाओं में कीर्ति फैलाती है। भला कहो, सत्संगति मनुष्यों की कौन-सी भलाई नहीं करती।

Good company removes the dullness of intellect; infuses truth into speech; bestows high honour, romoves sin, clarifies or Purifies the mind, spreads fame in all directions. Say what does not good company do for men ?

संस्कृत-भावार्थ—सद्भिः सह संगतिः मनुष्याणां बुद्धिमान्द्यं नाशयति, वाचि सत्यतां स्थापयति, मानवृद्धि करोति, पापं नाशयति, मनः आनन्दयति तथा यशो वर्धयति। अतः सज्जनैः सह एव संगतिः कर्त्तव्या न तु कदापि दुर्जनैः सह।

टिप्पणी—(१) सत्संगतिः—सज्जनों का साथ। सतां संगतिः (ष० त०) अथवा सती संगतिः (कर्म० स०)। √अस्+लट्—शतृ=सन्तः, तेषाम्। सम् √गम्+क्तिन् भावे=संगतिः। (२) धियः जाड्यम्—बुद्धि की जड़ता या मन्दता को। जडस्य भावः जाड्यम् जड+ष्यञ्। (३) वाचि सत्यं सिञ्चति—वाणी में सत्य को सींचती है अर्थात् मनुष्य को सत्यवादी बनाती है। सत्+यत् =सत्यम्। (४) दिशति—देती है। √दिश्+लट्—तिप्। (५) प्रसादयति—प्रसन्न करती है। प्र√सद्+णिच्+लट्—तिप्। (६) पुंसाम्—मनुष्यों का।

√पू+डुमसुन्=पुमांसः, तेषाम् । सम्बन्धे षष्ठी । (७) किं न करोति—(सत्संगति) क्या नहीं करती है अर्थात् सब कुछ करती है । अन्यत्र भी कहा है—'महाजनस्य संसर्गः कस्य नोन्नतिकारकः', 'सतां हि संगः सकलं प्रसूते', 'त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम्' ।

इस श्लोक के प्रथम तीन चरणों में बहुत-सी क्रियाओं का एक ही कर्त्ता होने से दीपक अलंकार है । 'सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्' । और इसके अन्तिम चरण में अर्थान्तरन्यास अलंकार है। इसमें वसन्ततिलका छन्द है ।

कवियों की महिमा—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥२१॥

अन्वय—ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः जयन्ति । येषाम् यशःकाये जरामरणजम् भयम् नास्ति ।

संस्कृत-व्याख्या—ते—प्रसिद्धाः, सुकृतिनः—पुण्यवन्तः, रससिद्धाः—शृङ्गारादिरसेषु सिद्धाः पारङ्गताः, कवीश्वराः—कविश्रेष्ठाः, जयन्ति—सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते, येषां—कवीश्वराणां, यशःकाये—कीर्तिशरीरे, जरामरणजं—वार्धक्यमरणाभ्यां जातं, भयं—भीतिः, नास्ति—न विद्यते ।

अनुवाद—वे सुकृती (पुण्यवान्) शृङ्गारादि रसों में सिद्ध कवीश्वर विजयी होते हैं, जिनके यशरूपी शरीर में जरा-मरण का भय नहीं रहता ।

Victorious are those blessed lords of the poets accomplished in sentiments whose body of fame has no fear due to old age and death.

संस्कृत-भावार्थ—शृङ्गारादिरसेषु सिद्धहस्ताः वा 'रसो वै सः' इति श्रुतेः ब्रह्मसाक्षात्कारवन्तः ते प्रसिद्धाः व्यासवाल्मीकिकालिदासप्रभृतयः कवीश्वराः सर्वोत्कर्षेण [illegible] । यतो हि तेषां यशः शरीरं कल्पान्तस्थायि ।

टिप्पणी—(१) सुकृतिनः—पुण्यात्मा । सु√कृ+क्त भावे=सुकृतम् । सुकृतम् अस्ति एषाम् इति सुकृत+इनि । (२) रससिद्धाः—रसों—शृंगार, वीर आदि (के प्रयोग) में पारंगत अथवा 'रसो वै सः' इस श्रुति के प्रमाण से

रस ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले । सिद्धः रसः यैः ते सिद्धरसाः वा रससिद्धाः (ब० स०) 'वाहिताग्न्यादिषु' इत्यनेन सिद्धशब्दस्य विकल्पेन पूर्वप्रयोगात् । (३) कवीश्वराः—कवियों में श्रेष्ठ । कविषु ईश्वराः (स० त०) अथवा कवीनाम् ईश्वराः (ष० त०) । √ईश्+वरच् 'स्थेशभासपिसकसो वरच्' इत्यनेन इति ईश्वराः । (४) यशःकाये—यश रूपी शरीर में । चीयते अस्मिन् अस्थ्यादिकम् इति कायः √चि+घञ्, चस्य कः । यशोरूपः कायः अथवा यश एव काय. (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकरूप स०), तस्मिन् । (५) जरामरणजम्—वृद्धावस्था तथा मृत्यु से उत्पन्न । √जृ+अङ्+टाप्=जरा । जरा च मरणं च इति जरामरणे (द्व० स०) । ताभ्यां जायते इति जरामरण√जन्+ड=जराम-रणजम् । यहां यह भी तात्पर्य है कि जैसे रस=पारद, रसायनशास्त्र में पारंगत व्यक्ति के शरीर में सिद्धपारदगुटिका के प्रयोग से जरा-मृत्यु का भय नहीं होता है, उसी तरह शृंगारादिरसों के प्रयोग से काव्यरचयिता के यशःशरीर में जरा-मृत्यु का भय नहीं रहता है अर्थात् उनका यश कल्पान्तस्थायी होता है।

इस श्लोक में 'सुकृतिन.' तथा 'रससिद्धाः' में श्लेष अलंकार है । 'जरा मृत्यु का भय क्यो नहीं है इस लिए कि वे रससिद्ध हैं' ऐसी विवक्षा होने से काव्यलिंग अलंकार है । 'काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता' । इसमें अनुष्टुप् छन्द है । छन्द का लक्षण—'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् । द्विचतुःपादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥'

अथ मानशौर्यपद्धतिः

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपि कष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि
मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भपिशितग्रासैकबद्धस्पृहः
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी ॥२२॥

अन्वय—क्षुत्क्षामः अपि जराकृशः अपि शिथिलप्रायः अपि कष्टाम् दशाम् आपन्नः अपि विपन्नदीधितिः अपि प्राणेषु नश्यत्सु अपि मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भ-पिशितग्रासैकबद्धस्पृहः मानमहताम् अग्रेसरः केसरी किम् जीर्णम् तृणम् अत्ति ?

संस्कृत-व्याख्या—क्षुत्क्षामः अपि—क्षुधा बुभुक्षया क्षामः अपि क्षीणः अपि, जराकृशः—जरया वार्धक्येन कृशः अपि दुर्बलः अपि, शिथिलप्राणः अपि—बाहुल्येन विश्लथदेहः अपि, कष्टां—कष्टकारिणीं, दशाम्—अवस्थाम्, आपन्नोऽपि—प्राप्तोऽपि, विपन्नदीधितिः अपि—नष्टकान्तिः अपि, प्राणेषु—असुषु, नश्यत्सु अपि—बहिर्गच्छत्सु अपि, मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भपिशितग्रासैकबद्धस्पृहः अपि—मत्तः मदमत्तः इभेन्द्रः गजेन्द्रः तस्य विभिन्नौ विदारितौ कुम्भौ मस्तकोन्नतभागौ तयोः पिशितं मांसं तस्य ग्रासे भक्षणे एकं मुख्यं यथा तथा बद्धा निहिता स्पृहा वाञ्छा यस्य तादृशः, मानमहतां—मानेन आत्मसम्मानेन महताम् उन्नतानाम्, अग्रेसरः—अग्रगण्यः, केसरी—सिंहः, किम्, जीर्णं—पुराणं शुष्कमिति यावत्, तृणं—घासम्, अत्ति—खादति ?

अनुवाद—यद्यपि सिंह क्षुधा से पीड़ित रहता, बुढ़ापे के मारे निर्बल बन जाता, शिथिलप्राय हो बड़ी दुर्दशा में रहता; उसका सारा तेज नष्ट हो जाता, जान जाने-जाने को हो जाती है, तो भी मानधनियों में अग्रगण्य वह केसरी मदमत्त गजेन्द्र के मस्तक को फाड़कर उसके ही मांस को खाने की इच्छा करता है; क्या कभी वह सूखी घास खाता है ?

Though parched with hunger, emaciated with old age, almost languid, reduced to a sad plight, with all energy lost and life perishing, will the lion, the first and foremost among those great in self-respect ever eat the withered grass; when his desire is solely fixed on eating the flesh of the cloven temple of the infatuated lordly elephant by tearing it with its claws

संस्कृत-भावार्थ—जराजर्जरो बुभुक्षापीडितो मरणासन्नोऽपि सिंहः स्वयं हतैर्गजैरेव जीवनं यापयन् शुष्कतृणानि भक्षयितुं न कदापि उत्साहशीलो भवति स्वाभिमानित्वात् । तथैव नरेण आत्मसम्मानिना भवितव्यम् ।

टिप्पणी—(१) क्षुत्क्षामः—भूख के कारण क्षीण । √क्षुध्+क्विप्=क्षुत्, तया । √क्षै+क्त, तस्य मः 'क्षायो मः' इत्यनेन=क्षामः । क्षुधा क्षामः (तृ० त०) । (२) जराकृशः—वृद्धावस्था के कारण दुर्बल । √जॄ+अङ् 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यनेन, ततष्टाप्=जरा । √कृश्+क्त कर्तरि 'अनुपसर्गात् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' इति सूत्रेण निपातनात् साधुः=कृशः । जरया कृशः (तृ० त०) ।

(३) शिथिलप्रायः—बहुत ही दुर्बल या शिथिल। प्रायेण शिथिलः इति शिथिलप्रायः (सुप्सुपा स०)। 'प्रायो बाहुल्यतुल्ययोः' इति मेदिनी। प्राय शब्द का प्रयोग बाहुल्य एवं तुल्य अर्थ में होता है। यथा बाहुल्य—शालिप्रायो देशः—धान से भरा हुआ देश। तुल्य—वर्षशतप्रायं दिनम्—सौ वर्ष के बराबर दिन। इसका अर्थ करीब-करीब भी होता है। जैसे, मृतप्राय, शिथिलप्राय आदि। (४) कष्टां दशाम्—कष्ट देने वाली अवस्था को। कष्टम् अस्ति अस्याम् इति कष्टा कष्ट+अच् अर्शआदित्वात्, ततः टाप्, ताम्। (५) आपन्नः—प्राप्त। आ√पद्+क्त 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इति सूत्रेण तस्य नः। (६) विपन्नदीधितिः—कान्ति या तेज से हीन। विपन्ना दीधितिः यस्य सः (ब० स०)। (७) प्राणेषु नश्यत्सु—अत्र भावे सप्तमी 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सूत्रेण। प्राण शब्द का प्रयोग सदा बहुवचन में होता है। (८) मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भपिशितग्रासैकबद्धस्पृहः—मतवाले गजराज के मस्तक को फाड़कर उसके मांस को खाने की एकमात्र इच्छा रखने वाला। इभानाम् इन्द्रः इभेन्द्रः (ष० त०)। विभिन्नौ कुम्भौ (कर्म० स०)। मत्ताः इभेन्द्राः (कर्म० स०), मत्तेभेन्द्रस्य विभिन्नकुम्भौ (ष० त०), तयोः पिशितम् (ष० त० वा स० त०), तस्य ग्रासः (ष० त०)। एकं यथा तथा बद्धा इति एकबद्धा (सुप्सुपा स०)। मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भपिशितग्रासे एकबद्धा स्पृहा यस्य सः (ब० स०)। √मद्+क्त कर्तरि=मत्त। √भिद्+क्त=भिन्न। √ग्रस्+घञ्=ग्रास। √बन्ध्+क्त=बद्ध। √स्पृह्+अङ+टाप्=स्पृहा। (९) मानमहताम्—महान् स्वाभिमानियों का। मानेन महान्तः (तृ० त०), तेषाम्। (१०) अग्रेसरः—अग्रगण्य, प्रधान। अग्रेसरतीति अग्रेसरः अग्रे√सृ+ट 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः' इत्यनेन। (११) केसरी—सिंह। केसराः (अयाल) सन्ति अस्य इति केसरी केसर+इनि।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

फल की आकांक्षा भी पुरुषार्थ के अनुरूप होती है—

स्वल्पस्नायुवसावसेकमलिनं निर्मांसमप्यस्थिकं
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न च तत्तस्य क्षुधाशान्तये।

सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ॥२३॥

अन्वय—श्वा स्वल्पस्नायुवसावसेकमलिनम् निर्मांसम् अपि अस्थिकं लब्ध्वा परितोषम् एति । तत् च तस्य क्षुधाशान्तये न अस्ति । सिंहः अङ्कम् आगतम् अपि जम्बुकम् त्यक्त्वा द्विपम् निहन्ति । कृच्छ्रगतः अपि सर्वः जनः सत्त्वानुरूपम् फलम् वाञ्छति ।

संस्कृत-व्याख्या—श्वा—कुक्कुरः, स्वल्पस्नायुवसावसेकमलिनं—स्वल्पयोः लेशमात्रयोः स्नायुवसयोः वस्नसामेदसोः अवसेकेन मेलनेन मलिनं मलदूषितं, निर्मांसम् अपि—मांसरहितम् अपि, अस्थिकं—कुत्सितं कीकसं, लब्ध्वा—प्राप्य, परितोषं—सन्तोषम्, एति—प्राप्नोति, तत्—अस्थि, च, तस्य—शुनः, क्षुधाशान्तये—बुभुक्षानिवारणाय, नास्ति—न भवति। सिंहः—केसरी, अङ्कं—क्रोडम्, आगतमपि—आयातमपि, जम्बुकं—शृगालं, त्यक्त्वा—विहाय, द्विपं—हस्तिनं, निहन्ति—मारयति । कृच्छ्रगतः—संकटस्थः, अपि, सर्वः—निखिलः, जनः—लोकः, सत्त्वानुरूपं—स्वशक्त्यनुगुणं, फलं—लाभं, वाञ्छति—काङ्क्षति ।

अनुवाद—ताँत और चर्बी की कुछ-कुछ मिलावट के कारण मैली एवं मांस-रहित हड्डी के टुकड़े को पाकर कुत्ता संतुष्ट हो जाता है, पर इससे उसकी क्षुधा शान्त नहीं होती । सिंह अपनी गोद में आये हुए शृगाल को छोड़ कर हाथी को ही मारता है । विपत्तिग्रस्त होने पर भी सब कोई अपने बल के योग्य ही फल की कामना करता है ।

On getting even a little bone, fleshless and dirty, with a little sprinkling of fat and muscles, a dog is well satisfied although it does not satisfy his hunger. (But) a lion kills an elephant, leaving a jackal though fallen into his clutches. Everybody, though in difficulty, wishes for a fruit according to his own greatness of heart.

संस्कृत-भावार्थ—श्वा निर्मांसं क्षुद्रम् अस्थि प्राप्य परितुष्यति तथा सिंहः अङ्कमागतमपि जम्बुकं परित्यज्य गजं हन्ति। अत एवं ज्ञायते यत् न दुर्बलः उत्तमफलाकाङ्क्षी न च प्रबलः निकृष्टफलाभिलाषी च भवति अपि तु सर्वे लोकाः स्वसामर्थ्यानुसारं स्वां-स्वां प्रकृतिमेवाश्रयन्ति ।

टिप्पणी—(१) स्वल्पस्नायुवसावलेपमलिनम्—तांत और चर्बी के बचे हुए थोड़े से भाग (के लगे रहने) से गंदी। स्नायुः च वसा च इति स्नायुवसे (द्व० स०), स्वल्पे स्नायुवसे (कर्म० स०), स्वल्पस्नायुवसयोः अवलेपः (षं० त०), तेन मलिनम् (तृ० त०)। यह 'अस्थिकं' का विशेषण है। (२) निर्मांसम्—मांसरहित। निर्गतं मांसं यस्मात् तत् (ब० स०)। (३) अस्थिकम्—हड्डी का टुकड़ा। कुत्सितम् अस्थि इति अस्थिकम् अस्थि+कन् कुत्सार्थे। (४) क्षुधाशान्तये—भूख मिटाने के लिए। √क्षुध्+क्विप्+टाप् (भागुरिमतेन) =क्षुधा। 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः। आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा।' क्षुधायाः शान्तिः (ष० त०), तस्यै। (५) सिंहः—हिनस्ति जन्तून् इति सिंहः√हिंस्+अच्, पृषोदरादित्वात् वर्णविपर्ययः। 'भवेद् वर्णागमाद् हंसः सिंहो वर्णविपर्ययात्। गूढोत्मा वर्णविकृतेः वर्णलोपात् पृषोदरः।' (६) द्विपम्—हाथी को। द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबति इति द्वि√पा+क=द्विपः, तम्। (७) सत्त्वानुरूपम्—(अपनी) शक्ति के अनुसार। अनुगतं रूपम् इति अनुरूपम् (प्रा० स०), सत्त्वस्य अनुरूपम् (ष० त०)।

इस श्लोक में 'सर्वः कृच्छ्रगतः……इत्यादि सामान्य उक्ति से प्रथम तीन चरणों की विशेष उक्ति का समर्थन किया गया है, अतएव अर्थान्तरन्यास अलंकार है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

उत्तम-अधम का निदर्शन—

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातम्
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुंगवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते॥२४॥

अन्वयः—श्वा लाङ्गूलचालनम् अधश्चरणावपातम् भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनम् च पिण्डदस्य कुरुते। गजपुंगवः तु धीरम् विलोकयति चाटुशतैः च भुङ्क्ते।

संस्कृत-व्याख्या—श्वा—कुक्कुरः, लाङ्गूलचालनं—पुच्छविवर्तनम्, अधश्चरणावपातम्—अधः नीचैः चरणावपातं चरणयोः पादयोः अवपातः पतनम्

तम्, भूमौ—पृथिव्यां, निपत्य—पतित्वा, वदनोदरदर्शनं च—मुखकुक्षिप्रदर्शनं च, पिण्डदस्य—अन्नदातुः (पुरतः), कुरुते—विदधाति । गजपुंगवः—हस्तिश्रेष्ठः, तु, धीरं—गम्भीरं यथा स्यात् तथा, विलोकयति—पश्यति, चाटुशतैः—बहुभिः प्रियोक्तिभिः, च, भुङ्क्ते—खादति ।

अनुवाद—कुत्ता अपने अन्नदाता के सामने पूंछ हिलाता, उसके पैरों पड़ता और जमीन पर लोट कर उसे अपना मुंह और पेट दिखाता है, परन्तु गजेन्द्र अपने अन्नदाता के प्रति गम्भीरतापूर्वक ताकता और बहुत ललकारने-पुचकारने पर (चारा) खाता है।

A dog wags his tail, falls down at the feet, and falling on ground exhibits his face and paw to his bread-giver but a lordly (an excellent) elephant looks seriously or gravely and eats when cajoled with hundreds of coaxing words.

संस्कृत-भावार्थ—श्वा भोजनार्थम् अन्नदातुः पुरतः पादपतनादिनीचचेष्टां करोति, किन्तु गजराजः पिण्डदस्य सन्निधौ धीरं विलोकयति अनेकैरभ्यर्थनोपचारैश्च खादति । इत्थमेव अधमप्रकृतिर्जनः भोजयितुः पुरः स्वीयां चञ्चलतां क्षुद्रतां च दर्शयति उत्तमप्रकृतिस्तु गजेन्द्र इव गम्भीरतां मानितां च प्रकटयति ।

टिप्पणी—(१) लाङ्गूलचालनम्—पूंछ हिलाना । लाङ्गूलस्य चालनम् (ष० त०) । (२) अधश्चरणावपातम्—नीचे पैरों पर गिरना । अव√पत्+घञ्=अवपातः, चरणयोः अवपातः (स० त०), अधः चरणावपातः (सुप्सुपा स०), तम् । (३) वदनोदरदर्शनम्—मुंह और पेट दिखाना । वदनं च उदरं च, तयोः समाहारः वदनोदरम् (द्व० स०) एकवद्भावश्च 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इत्यनेन । वदनोदरस्य दर्शनम् (ष० त०), तत् । (४) पिण्डदस्य—भोजन देने वाले के । इसके आगे 'पुरतः' या 'सम्मुखे' पद का अध्याहार कर लेना चाहिए । पिण्डं ददातीति पिण्डदः पिण्ड√दा+क, तस्य । (५) गजपुंगवः—गजराज । पुमान् गौः इति पुंगवः श्रेष्ठः (कर्म० स०), 'गोरतद्धितलुकि' इत्यनेन समासान्तः टच्प्रत्ययः । 'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुंगवर्षभकुञ्जराः । सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः' इत्यमरः । गजः पुंगव इव इति गजपुंगवः (उपमित स०) 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इत्यनेन । (६) धीरम्—गंभीरतापूर्वक । यह

'विलोकयति' क्रिया का विशेषण है, अतएव इसमें द्वितीया हुई। (७) चाटुशतैः—सैकड़ों अनुनय-विनय के वचनों या खुशामदों से। चाटूनां शतानि (ष० त०), तैः करणे तृतीया।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा का भेद अन्योक्ति अलंकार है। इसमें वसन्ततिलका छन्द है।

जन्म का साफल्य—

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ॥२५॥

अन्वयः—परिवर्तिनि संसारे कः न मृतः वा न जायते। स जातः येन जातेन वंशः समुन्नतिम् याति।

संस्कृत-व्याख्या—परिवर्तिनि—परिवर्तनशीले, संसारे—जगति, कः—पुरुषः, न, मृतः—म्रियते, वा अथवा, न जायते—न उत्पद्यते। सः—पुरुषः, जातः—उत्पन्नः, येन, जातेन—उत्पन्नेन, वंशः—कुलं, समुन्नतिम्—उत्कर्षं, याति—प्राप्नोति।

अनुवाद—इस परिवर्तनशील संसार में कौन नहीं मरता और कौन नहीं जन्मता? पर यहाँ उसी का जन्म लेना सफल है जिसके जन्म लेने से वंश की उन्नति हो।

In this ever-changing world, who is not born and who is not dead? He alone is (truly) born, by whose birth the family attains eminence.

संस्कृत-भावार्थ—यः स्ववंशम् उद्धारयति तस्यैव जन्म सार्थकम्, अन्यथा परिवर्तनशीले जगति जन्म-मरणे तु अपरिहार्ये एव। तत्र को विशेषः?

टिप्पणी—(१) परिवर्तिनि—परिवर्तनशील। परिवर्तितुं शीलमस्य इति परिवर्ती परि√वृत्+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये, तस्मिन्। (२) संसारे—संसरत्यस्मात् इति संसारः सम्√सृ+घञ्, तस्मिन्। (३) येन जातेन—जिसके पैदा होने से। अत्र करणे हेतौ वा तृतीया। (४) समुन्नतिम्—उत्कर्ष को। सम्-उद्√नम्+क्तिन् भावे=समुन्नतिः, ताम्।

इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है ।

मनस्वी की दो गतियाँ—

कुसुमस्तबकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा ॥२६॥

अन्वयः—कुसुमस्तवकस्य इव मनस्विनः द्वयी वृत्तिः। सर्वलोकस्य मूर्ध्नि वा, वने एव शीर्यते वा ।

संस्कृत-व्याख्या—कुसुमस्तवकस्य—पुष्पगुच्छस्य, इव—तद्वत्, मनस्विनः—धीरस्य, द्वयी—द्विविधा, वृत्तिः—व्यापारः । सर्वलोकस्य—सर्वेषां जनानां, मूर्ध्नि—मस्तके, वा—अथवा, वने—अरण्ये एव, शीर्यते वा—जीर्यति वा ।

अनुवाद—फूल के गुच्छों की भाँति मनस्वियों की दो ही गतियाँ हैं । या तो सब लोगों के सिर पर चढ़ें या वन ही में मुरझा जायें ।

There is only twofold course of action of the highminded, like that of a bunch of flowers—to be on the head of all or to wither away in a forest.

संस्कृत-भावार्थ—मनस्वी जनः सर्वेभ्यः उत्कर्षं प्राप्तुं प्रयतते एकाकी वा भूत्वा शरीरं त्यक्तुमभिलषति। इयमेव पुंसां श्रेयस्करी वृत्तिः ।

टिप्पणी—(१) कुसुमस्तवकस्येव—फूलों के गुच्छों के समान । कुसुमानां स्तवकः (ष० त०), तस्य इव 'नित्यसमासः षष्ठ्याः अलोपश्च' 'इवेन सह नित्य-समासः विभक्त्यलोपश्च' इति वार्तिकेन । (२) मनस्विनः—महामना या धीर पुरुष की । मनस्+विनि 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इत्यनेन=मनस्वी, तस्य । वृत्तियोगे कर्तरि षष्ठी 'कर्तृकर्मणोः कृति' इत्यनेन (३) द्वयी वृत्तिः—दो वृत्तियाँ या गतियाँ । द्वौ अवयवौ यस्याः सा द्वयी द्वि+तयप् 'संख्याया अवयवे तयप्' इत्यनेन, तस्य अयच् 'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा' इत्यनेन, ततः ङीप् । (४) सर्वलोकस्य मूर्ध्नि—सब लोगों के मस्तक पर । सर्वः लोकः (कर्म० स०), तस्य । शेषे षष्ठी । (५) वन एव—वने एव=वन एव । वने के एकार को अय् आदेश होने पर 'लोपः शाकल्यस्य' से यकार का लोप हो गया । (६) शीर्यते—मुरझा जाता है । √शृ (दिवादिगणीय)+लट्—ते ।

इस श्लोक में पूर्णोपमा अलंकार है और अनुष्टुप् छन्द है।

महान् का वैर भी महान् से होता है—

सन्त्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतयः संभाविताः पञ्चषा-
स्तान्प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते।
द्वावेव ग्रसते दिवाकरनिशाप्राणेश्वरौ भास्वरौ
भ्रातः! पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषाकृतिः ॥२७॥

अन्वयः—अन्ये बृहस्पतिप्रभृतयः अपि पञ्चषाः संभाविताः सन्ति तान् प्रति एषः विशेषविक्रमरुचिः राहुः न वैरायते। भास्वरौ द्वौ दिवाकर-निशाप्राणेश्वरौ एव शीर्षावशेषाकृतिः दानवपतिः पर्वणि ग्रसते इति हे भ्रातः! पश्य।

संस्कृत-व्याख्या—अन्ये—अपरे, बृहस्पतिप्रभृतयः—गुरुबुधशुक्रादयः, अपि, पञ्चषाः—पञ्च वा षड् वा, संभाविताः—बहुमताः ग्रहाः, सन्ति—विद्यन्ते, तान् प्रति, एषः—असौ, विशेषविक्रमरुचिः—विशेषेषु तेजोगरिष्ठेषु विक्रमेषु पराक्रमेषु रुचिः मनोलग्नता यस्य तादृशः, राहुः—सैंहिकेयः, न वैरायते—न कलहं करोति। भास्वरौ—प्रकाशमानौ, द्वौ—उभौ, दिवाकरनिशाप्राणेश्वरौ—सूर्याचन्द्रमसौ, एव, शीर्षावशेषाकृतिः—शिरोमात्रावशिष्टदेहः, दानवपतिः—दानवेन्द्रो (राहुः), पर्वणि—अमावास्यायां पूर्णिमायां च, ग्रसते—कवलीकरोति, (इति) हे भ्रातः! पश्य—अवलोकय (इदम्)।

अनुवाद—बृहस्पति आदि पांच-छः और प्रतिष्ठित ग्रह भी आकाश में हैं पर अपना विशेष पराक्रम दिखलाने वाला राहु उन सब से वैर नहीं करता। देखो भाई! यह दैत्यराज राहु, जिसका मस्तक ही केवल बचा हुआ है, अमावास्या और पूर्णिमा के दिन प्रकाशमान सूर्य और चन्द्रमा को ही ग्रसता है (और किसी को नहीं)।

There are even others, five or six honourable (planets), Brihaspati and others, but not Rahu, delighting in showing his valour, to distinguished enemies does not declare hostility towards them. See, brother, the lord of demons, with his head as the only remnant part of his body; devours only the two

luminaries, the sun, and the moon on the new-moon day and the full-moon day.

संस्कृत-भावार्थ—शिरोमात्रावशिष्टदेहो राहुः सत्स्वपि तेजोगरिष्ठेषु बृहस्पति-प्रभृतिषु ग्रहेषु सूर्याचन्द्रमसौ एव ग्रसते । यतो हि मानी पुरुषो हीनां दशां प्राप्तोऽपि बलिष्ठेष्वेव पराक्रमं दर्शयति न च क्षुद्रेषु ।

टिप्पणी—(१) बृहस्पतिप्रभृतयः—बृहस्पति आदि । बृहस्पतिः प्रभृतिः येषां ते (ब० स०) । बृहतां पतिः बृहस्पतिः (ष० त०), 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' इति वार्तिकेन सुट् आगमः तकारस्य च लोपः । प्रभृति—स्त्रीलिंग, प्रारंभ होना, अव्यय के रूप में प्रयुक्त होने पर 'अद्यप्रभृति, ततः प्रभृति' इत्यादि प्रयोग होते हैं । (२) पञ्चषाः—पाँच या छह । पञ्च वा षट् वा इति पञ्चषाः (वार्ये बहुव्रीहिः) 'संख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये' इत्यनेन, ततः 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्' इत्यनेन डच् प्रत्ययः, डित्वाट्टिलोपः । यहाँ बहुवचन क्यों हुआ—इस सम्बन्ध में भाष्यकार आदि का कथन देखिए—'तत्र युक्तं बहुवचनम्' इति भाष्यकारः । 'तदपेक्षं बहुवचनमेव' इति तत्त्वबोधिनी । (३) विशेषविक्रमरुचिः—विशिष्ट व्यक्तियों पर पराक्रम दिखलाने का इच्छुक । विशिष्यते इति विशेषः वि√शिष्+अच् । विशेषेषु विक्रमः (स० त०), तस्मिन् रुचिः यस्य सः (ब० स०) अथवा विशेषः विक्रमः (कर्म० स०), तस्मिन् रुचिः यस्य सः (ब० स०) । इस पक्ष में अर्थ होगा—विशेष पराक्रम का इच्छुक । विशेषविक्रमरुचिः राहुः विशेषविक्रमरुची राहुः 'रो रि' सूत्र से रेफ का लोप तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' सूत्र से दीर्घ । (४) वैरायते—शत्रुता करता है । वैरं करोति इति वैरायते वैर+क्यङ् 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे' इत्यनेन । (५) भास्वरौ—प्रकाशमान । √भास्+वरच् 'स्थेशभासपिसकसो वरच्' इत्यनेन । (६) दिवाकरनिशाप्राणेश्वरौ—सूर्य और चन्द्रमा को । दिवा करोतीति दिवाकरः दिवा√कृ+ट 'दिवाविभानिशाप्रभा—'इत्यादि सूत्रेण । प्राणानाम् ईश्वरः प्राणेश्वरः, निशायाः प्राणेश्वरः (ष० त०), दिवाकरश्च निशाप्राणेश्वरश्च इति (द्व० स०) (७) शीर्षावशेषाकृतिः—जिसका केवल सिर ही बचा हुआ है । शीर्षम् एव अवशेषो यस्याः सा शीर्षावशेषा (ब० स०), तादृशी आकृतिर्यस्य सः (ब० स०) । (८)

दानवपतिः—राहु। दनोः अपत्यं पुमान् इति दानवः दनु+अण्। पातीति पतिः√पा+डति। दानवानां पतिः (ष० त०)।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है, क्योंकि राहु के कार्य के वर्णन से दुष्ट मनुष्य के कार्य का बोध होता है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

विशेष—पौराणिक कथा है कि समुद्र-मन्थन से अमृत निकलने पर राहु भी उसका पान करने के लिए अपना स्वरूप बदल कर देवताओं की पंक्ति में बैठ गया था। पर सूर्य और चन्द्रमा ने भगवान् विष्णु से उसकी कपट-वृत्ति का भेद बतला दिया। इस पर विष्णु ने सुदर्शन चक्र से उसका सिर काट डाला। किन्तु तब तक वह थोड़ा-सा अमृत पी गया था। इसलिए वह मरा नहीं, बल्कि उसका सिर भाग राहु और धड़ भाग केतु नाम से विख्यात हुआ। कहते हैं कि वही राहु सूर्य और चन्द्रमा से बदला लेने के लिए ग्रहण के समय उन्हें ग्रस लेता है।

महत्ता का परिमाण नहीं होता—

वहति भुवनश्रेणिं शेषः फणाफलकस्थितां
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स च धार्यते।
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरा-
दहह! महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः ॥२८॥

अन्वय—शेषः फणाफलकस्थिताम् भुवनश्रेणिं वहति। स च कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा धार्यते। तम् अपि पयोधिः अनादरात् क्रोडाधीनम् कुरुते। अहह! महताम् चरित्रविभूतयः निःसीमानः।

संस्कृत-व्याख्या—शेषः—शेषनागः, फणाफलकस्थितां—फणाः स्फटाः फलकानि पट्टानि इव तेषु स्थितां निहितां, भुवनश्रेणिं—चतुर्दशलोकपङ्क्तिं, वहति—धारयति। स च—शेषः, कमठपतिना—महाकच्छपेन, मध्येपृष्ठं—पृष्ठमध्ये, सदा—सर्वदा, धार्यते—उह्यते। तं—कमठपतिम्, अपि, पयोधिः—समुद्रः, अनादरात्—अवहेलनात्, क्रोडाधीनम् अङ्कस्थं, कुरुते—विदधाति। अहह—अद्भुतम्, महतां—महानुभावानां, चरित्रविभूतयः—माहात्म्यसम्पदः, निःसीमानः—निर्मर्यादाः (भवन्ति)।

अनुवाद—शेषनाग अपने विस्तृत फनों पर भुवनावली को ढोते, कच्छपराज इसको अपनी पीठ पर धारण करते, और उसको भी प्रलय-समुद्र अनायास अपनी गोद में ले बैठता है। अहह ! बड़ों की चरित्र-महिमा असीम होती है।

Sesa bears the row of the worlds placed upon the flat surface of his expanded hoods. And he is held on his back by the Lord of the tortoise. Even him the ocean consigns with but scanty regard, to its lap (i. e. to the abyss of its water), or to the boar incarnation. Oh ! Unlimited is the exuberance of the character of the great.

संस्कृत-भावार्थ—शेषनागः स्वफणेषु पातालादिलोकान् धारयति, शेषनागं कच्छपदेवो वहति, कच्छपदेवमपि समुद्रो लीलया क्रोडस्थं करोति। इत्थं मानशौर्यशालिनां महानुभावानां माहात्म्यसम्पदः अवाङ्मनसगोचराः भवन्ति।

टिप्पणी—(१) फणाफलकस्थिताम्—फनों के पटरे पर स्थित। फणाः फलकानि इव इति (उपमित स०), तेषु स्थिता (स० त०), ताम्। (२) भुवनश्रेणिम्—लोकों की श्रेणी अर्थात् चौदह लोकों को। भुवनानां श्रेणिः (ष० त०), ताम्। 'रात्रिः रात्री' की तरह 'श्रेणिः श्रेणी' दोनों शब्द शुद्ध हैं। (३) कमठपतिना—कच्छपराज। कमठानां पतिः (ष० त०), तेन। यहाँ 'पतिः समास एव' सूत्र से घिसंज्ञा हो जाने के कारण तृतीया विभक्ति के टा को ना आदेश हुआ। (४) मध्येपृष्ठम्—पीठ पर। पृष्ठस्य मध्ये इति मध्ये-पृष्ठम् (अव्य० स०) 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यनेन अत्र एत्वं निपात्यते। असमासे 'मध्ये पृष्ठस्य' इति रूपम्। (५) पयोधिः—समुद्र। पयांसि धीयन्ते अस्मिन् इति पयस्√धा+कि=पयोधिः। (६) अनादरात्—अनादर पूर्वक या अनायास। आ√दृ+अप् 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' इत्यनेन=आदरः, न आदरः अनादरः (न० त०), तस्मात्। (७) क्रोडाधीनम्—गोद में अवस्थित। क्रोडे अधि—अत्र 'अधिरीश्वरे' इति सूत्रेण कर्मप्रवचनीयसंज्ञा, 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वर-वचनं तत्र सप्तमी' इति सूत्रेण सप्तमी, 'सप्तमी शौण्डैः' इत्यनेन समासः= क्रोडाधि+ख 'अपडक्षाशितङ्ग्वलंकर्मालंपुरुषाध्युत्तरपदात्खः' इत्यनेन, खस्य ईनादेशः। (८) निःसीमानः—सीमारहित या मन-वाणी से परे। निःनास्ति सीमा यासां ताः निःसीमानः (प्रा० ब० स०)।

इस श्लोक में प्रथम तीन चरणों में मालादीपक और अन्तिम चरण में अर्थान्तरन्यास अलंकार हैं। इसमें हरिणी छन्द है। छन्द का लक्षण—'नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता'।

औचित्य का विचार होना चाहिए—

वरं पक्षच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश-
प्रहारैरुद्गच्छद्बहुलदहनोद्गारगुरुभिः ।
तुषाराद्रेः सूनोरहह ! पितरि क्लेशविवशे
न चासौ संपातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ॥२९॥

अन्वयः—उद्गच्छद्बहुलदहनोद्गारगुरुभिः समदमघवन्मुक्तकुलिशप्रहारैः तुषाराद्रेः सूनोः पक्षच्छेदः वरम्। अहह ! पितरि क्लेशविवशे सति पयसाम् पत्युः पयसि असौ संपातः न उचितः।

संस्कृत-व्याख्या—उद्गच्छद्बहुलदहनोद्गारगुरुभिः—उद्गच्छन् उज्जृम्भमाणः बहुलः भूयिष्ठः यो दहनः अग्निः तस्य उद्गारैः निःसरणैः गुरुभिः दुःसहैः, समदमघवन्मुक्तकुलिशप्रहारैः—समदः सगर्वः मघवा इन्द्रः तेन मुक्तः प्रक्षिप्तः कुलिशः वज्रः तस्य प्रहारैः आघातैः, तुषाराद्रेः—हिमालयस्य, सूनोः—पुत्रस्य, पक्षच्छेदः—पक्षकर्तनं, वरं—मनाक् प्रियम्। अहह—खेदे, पितरि—जनके, क्लेशविवशे—क्लेशेन वज्राघातजन्यदुःखेन विवशे विह्वले (सति), पयसाम् पत्युः—समुद्रस्य, पयसि—जले, असौ—अयं, संपातः—प्रवेशः निलीय अवस्थानमिति यावत्, न उचितः—न योग्यः।

अनुवाद—सगर्व इन्द्र के छोड़े हुए वज्र के प्रहार को पाकर—(जो प्रहार अग्नि की बहुत चिनगारियों के छिटकने के कारण बहुत ही भयानक थे)—मर जाना कहीं अच्छा था पर हिमालय के पुत्र का (मैनाक का) अपने विपद्ग्रस्त पिता को क्लेश में छोड़ कर समुद्र के जल में छिप कर बचना उचित नहीं था।

Better it was for the son of the Himalaya to have his wing chopped off by the blows of the thunderbolt hurled down by the proud Indra, the blow which was terrible on account of the outbursts of the violent rising fire. But alas ! it was not proper for him to hide himself by plunging into the water of

the lord of water (i.e. Ocean) when his father was subjected to torture.

संस्कृत-भावार्थ—इन्द्रवज्रेण हिमालयस्य पक्षच्छेदे क्रियमाणे सति हिमालय-पुत्रस्य मैनाकस्य स्वप्राणरक्षार्थं समुद्रे निलीय अवस्थानमनुचितमभवत् । तथैव स्वपितरि क्लेशविह्वले सति ये स्वाभिमानिनो जनाः स्वप्राणमात्ररक्षार्थं क्वचित् निलीय अवतिष्ठन्ते तान् धिक् ।

टिप्पणी—(१) उद्गच्छद्बहुलदहनोद्गारगुरुभिः—ऊपर उठते हुए अग्नि-पुञ्ज के उद्गार के कारण असह्य । बहुलः दहनः बहुलदहनः (कर्म० स०), उद्गच्छन् बहुलदहनः (कर्म० स०), तस्य उद्गाराः (ष० त०), तैः गुरवः (तृ० त०), तैः । यह 'प्रहारैः' का विशेषण है । (२) समदमघवन्मुक्तकुलिश-प्रहारैः—दर्पयुक्त इन्द्र द्वारा छोड़े गये वज्र के प्रहारों से । √मद्+अप् 'मदो-ऽनुपसर्गात्' इत्यनेन=मदः । √मुच्+क्त कर्मणि=मुक्तः । प्र√हृ+घञ् भावे=प्रहारः । मदेन सह वर्तमानः इति समदः (ब० स० तुल्ययोगे), समदः मघवा (कर्म० स०), तेन मुक्तः (तृ० त०), तादृशः कुलिशः (कर्म० स०), तस्य प्रहारः (ष० त०), तः । (३) तुषाराद्रेः—हिमालय के । तुषारस्य अद्रिः (ष० त०) वा तुषारपूर्णः अद्रिः (मध्य० स०), तस्य । (४) सूनोः—पुत्र का, मैनाक का । (५) पितरि—अत्र भावे सप्तमी । (६) क्लेशविवशे—दुःख से विह्वल या अभिभूत होने पर । विगतः वशः यस्य स विवशः (प्रा० ब० स०), क्लेशेन विवशः क्लेशविवशः (तृ० त०), तस्मिन् । (७) सम्पातः—कूद पड़ना । सम्√पत्+घञ् भावे ।

इस श्लोक में शिखरिणी छन्द है । छन्द का लक्षण—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यम-नसभला गः शिखरिणी' ।

विशेष—प्राचीन काल में पर्वतों के पंख होते थे, जिससे वे उड़कर कहीं से कहीं चले जाते थे और जहाँ पृथ्वी पर उतरते थे वहाँ जीव-जन्तुओं को नष्ट कर देते थे । इस पर इन्द्र ने अपने वज्र से उनके पंखों को काट डाला । जब हिमालय का पंख काटा जा रहा था, उस समय मैनाक समुद्र में घुसकर छिप गया था । यही अन्तः कथा यहाँ पर है ।

तेजस्वी अपमान नहीं सह सकते—

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः ।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते ॥३०॥

अन्वयः—यत् अचेतनः अपि इनकान्तः सवितुः पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति, तत् तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिम् कथम् सहते ।

संस्कृत-भावार्थ—यत्—यस्मात् कारणात्, अचेतनः—चेतनारहितः, अपि, इनकान्तः—सूर्यकान्तः (मणिः), सवितुः—सूर्यस्य, पादैः—किरणैः, स्पृष्टः—आमृष्टः ताडित इति यावत्, प्रज्वलति—स्फुलिंगान् वमति, तत्—तस्मात्, तेजस्वी—तेजःशाली, पुरुषः—नरः, परकृतनिकृतिं—परैः शत्रुभिः कृतां विहितां निकृतिं निरादरम् अपकारं वा, कथं—केन प्रकारेण, सहते—क्षमते न कथञ्चित् इत्यर्थः ।

अनुवाद—जब अचेतन सूर्यकान्त भी सूर्यकिरण के छू जाने से जल उठता है, तब तेजस्वी पुरुष पर-कृत अपमान को कैसे सह सकता है ?

Since even an inanimate sun-gem burns ablaze when touched with the rays (feet) of the sun, how can then a mettled or spirited man brook an insult, done by others ?

संस्कृत-भावार्थ—यदा प्रस्तरोऽपि सूर्यकान्तमणिः सूर्यपादैः स्पृष्टः सन् स्फुलिङ्गान् वमति तदा तेजस्वी पुरुषः पददलितो भूत्वा पराभवं कथं सहेत ?

टिप्पणी—(१) अचेतनः चेतनारहित, जड़ पदार्थ । नास्ति चेतना यस्य स अचेतनः (न० ब० स०) 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इत्यनेन । (२) इनकान्तः—सूर्यकान्त मणि । यह सूर्य की किरणों का स्पर्श प्राप्त करके प्रकाश की चिनगारियाँ उगलने लगता है । इनेन सूर्येण कान्तः (तृ० त०)—सूर्य द्वारा चाहा हुआ । अथवा इनस्य कान्तः (ष० त०)—सूर्य का प्रिय । (३) पादैः स्पृष्टः—(१) किरणों से स्पर्श किये जाने पर । (२) पैरों से मारे जाने पर । करणे तृतीया । (४) तेजस्वी—तेजोविशिष्ट, पराक्रमी । तेजो भूम्ना अस्ति अस्य इति तेजस्+विनि 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इत्यनेन । परकृतनिकृतिम्—दूसरों के द्वारा किया गया अपमान । नि√कृ+क्तिन् भावे= निकृतिः । परैः कृता इति परकृता (तृ० त०), परकृता निकृतिः (कर्म० स०), ताम् । तुलना कीजिए—'न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां प्रसहते, स तस्य स्वो

भाव: प्रकृतिनियतत्वादकृतकः । मयूखैराक्रान्तं तपति यदि देवो दिनकरः, किमाग्नेयग्रावा निकृत इव तेजांसि वमति ॥' (उ० च० ६, १४) ।

इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार है और आर्या छन्द का भेद है ।

तेजस्विता में अवस्था कारण नहीं—

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु ।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः ॥३१॥

अन्वयः—सिंहः शिशुः अपि मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु निपतति । इयम् सत्त्ववताम् प्रकृतिः, वयः तेजसो हेतुः न खलु ।

संस्कृत-व्याख्या—सिंहः—केसरी, शिशुः—बालः, अपि, मदमलिनकपोलभित्तिषु—मदेन दानजलेन मलिना पङ्किला कपोलभित्तयः गण्डस्थलानि येषां तेषु, गजेषु—हस्तिषु, निपतति—आक्रामति । इयम्—एषा, सत्त्ववतां बलवतां, प्रकृतिः—स्वभावः, वयः—अवस्था, तेजसः—प्रतापविक्रमादेः, हेतुः—कारणं, न खलु—नैव अस्तीति शेषः ।

अनुवाद—सिंह का बच्चा भी मदमत्त हाथियों के मस्तक ही पर हमला करता है । सत्त्वशालियों का यह स्वभाव ही है । आयु सचमुच तेज का कारण नहीं होती ।

The lion, though young, falls upon elephants whose rampart-like massive temples are sullied with ichor; this is the nature of the valiant. Age is not, indeed, the cause of valour.

संस्कृत-भावार्थ—बलशाली स्वाभिमानी प्राणी शत्रुं तिरस्कृत्यैव शान्तिं लभते । पराक्रमो हि न वयःसापेक्षः । स च स्वाभिमानिनः स्वभावतो धर्म एव । अतएव शिशुरपि सिंहो मत्तमातङ्गेषु आक्रामति ।

टिप्पणी—(१) मदमलिनकपोलभित्तिषु—मद से पंकिल गण्डस्थल वाले । कपोलाः भित्तय इव इति (उपमित स०) । अथवा प्रशस्ताः कपोलाः इति कपोलभित्तयः (कर्म० स०) । गणरत्नमहोदधि के अनुसार भित्ति शब्द प्रशंसावाची भी है—'मतल्लिकोद्घमिश्राः स्युः प्रकाण्डस्थलभित्तयः' । (२) गजेषु—अत्र अधिकरणे सप्तमी । (३) सत्त्ववताम्—बलशालियों को ।

सत्त्वम् बलम् अस्ति एषाम् इति सत्त्व+मतुप् 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽय-वादिभ्यः' इत्यनेन मस्य वः। (४) वयः—अवस्था। √अज्+असुच् अज को वी आदेश। तुलना कीजिए—'तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते' (रघु० ११,१)। अन्यत्र भी—'तेजसा सह जातानां वयः कुत्रोपयुज्यते'।

अथार्थपद्धतिः

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तत्राप्यधो गच्छतां
शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः संदह्यतां वह्निना।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ताः इमे ॥३२॥

अन्वयः—जातिः रसातलम् यातु, गुणगणः तत्रापि अधः गच्छताम् शीलं शैलतटात् पततु, अभिजनः वह्निना संदह्यताम्। वैरिणि शौर्ये आशु वज्रम् निपततु, नः केवलम् अर्थः अस्तु। एकेन येन विना इमे समस्ताः गुणाः तृणलवप्रायाः (सन्ति)।

संस्कृत-व्याख्या—जातिः—ब्राह्मणत्वादिः, रसातलम्—अधोलोकं, यातु—गच्छतु, गुणगणः—दयादाक्षिण्यादिगुणसमूहः, तत्रापि—रसातलादपि, अधः—नीचैः, (पातालं) गच्छतां—यातु, शील—सद्वृत्तं, शैलतटात्—गिरिपर्वततटात्, पततु—भ्रश्यतु, अभिजनः—उच्चवंशः, वह्निना—अग्निना, संदह्यतां—भस्मीक्रियताम्, वैरिणि—शत्रुभूते, शौर्ये—वीरत्वे, आशु—शीघ्रं, वज्रं—कुलिशं, निपततु—पतितं भवतु, नः—अस्माकं, केवलम्—एकमात्रम्, अर्थः—धनम्, अस्तु—संभवतु, एकेन—केवलेन, येन—अर्थेन, विना—अन्तरेण, इमे—पूर्वोक्ताः, समस्ताः—निखिलाः, गुणाः—जातिकुलशीलादयः, तृणलवप्रायाः—तृणकल्पाः, (सन्ति)।

अनुवाद—जाति रसातल चली जाय, गुण-समूह उससे भी नीचे चला जाय, शील पर्वत-तट पर से जा गिरे, उच्च वंश आग में जल जाय, शत्रु-तुल्य वीरता पर शीघ्र वज्र पड़े, हमें सिर्फ धन हो, जिस एक के बिना ये सारे गुण तृणवत् हैं।

Let caste go to the nether region; let the assemblage of virtues sink lower still; let character fall from the side of a mountain; let noble ancestry be burnt with fire; let bolt fall at once upon the inimical heroism; let us have only wealth;

without which alone, all these merits are almost like a particle of straw.

संस्कृत-भावार्थ—ब्राह्मणत्वाद्युत्तमजातिः सच्चरित्रं कुलीनता वीरता इत्यादि गुणाः सन्तोऽपि धनाभावे न शोभन्ते । अतः सर्वैर्धनमेवोपार्जनीयम् ।

टिप्पणी—(१) रसातलम्—नीचे के सात लोकों में से चौथे लोक को रसातल कहते हैं। सात लोक ये हैं—अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल। रसायाः तलम् इति (ष० त०)। (२) गच्छताम्—यहाँ 'गच्छतु' होना चाहिए, क्योंकि गम् धातु परस्मैपदी है। किन्तु 'निरंकुशाः कवयः' के अनुसार कवि का यह प्रयोग क्षम्य है। (३) शीलम्—उत्तम चरित्र। 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः। (४) वैरिणि शौर्ये—शत्रु स्वरूप वीरता। एक सुभाषित में लक्ष्मी ने कहा है कि मैं विद्वान् पुरुष के पास इसलिए नहीं रहती हूँ कि वहाँ मेरी सपत्नी सरस्वती रहती है और वीरपुरुष को इसलिए छोड़ देती हूँ कि उसका प्राण सदा हथेली पर रहता है, इसलिए पता नहीं कब मुझे विधवा हो जाना पड़े—'बुधं त्यजामि सापत्न्याद् वीरं वैधव्यकारणात्'। वैर+इनि=वैरी, तस्मिन्। शूरस्य भावः शौर्यम् शूर+ष्यञ्, तस्मिन्। (५) वह्निना—अग्नि से। अनुक्ते कर्तरि तृतीया। (६) संदह्यताम्—जला दे। सम्√दह्+लोट् कर्मणि, यक्। (७) येन—अत्र 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्' इति सूत्रेण विनयोगे तृतीया। (८) तृणलवप्रायाः—तिनके के समान निःसार। तृणस्य लवः (ष० त०), तेन तुल्याः तृणलवप्रायाः (नित्यसमासः) अथवा प्रायेण भूम्ना तृणलवाः इति (सुप्सुपा स०)। 'प्रायो बाहुल्यतुल्ययोः' मेदिनी। तुलना कीजिए—'धनमर्जय काकुत्स्थ धनमूलमिदं जगत्। अन्तरं नाभिजानामि निर्धनस्य मृतस्य च॥' (रामायण)।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार है। 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगं निगद्यते'। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

धन की महिमा—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः।

स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ॥३३॥

अन्वयः—यस्य वित्तम् अस्ति स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः स एव वक्ता स दर्शनीयः च; सर्वे गुणाः काञ्चनम् आश्रयन्ते ।

संस्कृत-व्याख्या—यस्य—नरस्य, वित्तं—धनम्, अस्ति—विद्यते, सः, नरः—मनुष्यः, कुलीनः—सत्कुलोत्पन्नः, सः—नरः, पण्डितः—विद्वान्, सः, श्रुतवान्—शास्त्रज्ञः, (सः) गुणज्ञः—गुणग्राही, सः एव, वक्ता—वाग्मी सः, दर्शनीयः—सुन्दरः, च; सर्वे—समस्ताः, गुणाः—कुलीनत्वादयः, काञ्चनं—सुवर्णं धनमिति यावत्, आश्रयन्ते—सेवन्ते ।

अनुवाद—जिसके पास धन है वही मनुष्य कुलीन है, वही पण्डित है, वही शास्त्रज्ञ है, वही गुणज्ञ है । वही वक्ता है, वही सुन्दर है । सोने ही में सब गुण रहते हैं ।

The man who has wealth, is regarded noble born. He is *learned, he is well-versed in Shastras;* and is an appreciator of merits, he alone is an orator and he is handsome. All virtues depend upon or cling to gold.

संस्कृत-भावार्थ—यस्य नरस्य उपान्ते धनं विद्यते तमेव जनाः कुलीनं पण्डितं शास्त्रज्ञं गुणग्राहिणं शोभनवक्तारं दर्शनीयं च मन्यन्ते, अर्थात् उक्त-गुणराहित्येऽपि धनी जनः तत्तद्गुणवान् अस्ति; यतो हि कुलीनत्वादयः सर्वे गुणाः धनमेव आश्रयन्ते ।

टिप्पणी—(१) वित्तम्—धन । √विद् (लाभे)+क्त भावे । (२) कुलीनः—उच्च कुल का । कुल+ख 'कुलात्खः' इत्यनेन, खस्य ईनादेशः । (३) श्रुतवान्—शास्त्रों का ज्ञाता । श्रुतम् अस्ति अस्य इति श्रुतवान् श्रुत+मतुप् मस्य वः । (४) गुणज्ञः—गुणग्राही । जानातीति ज्ञः √ज्ञा+क 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इत्यनेन, गुणानां ज्ञः गुणज्ञः (ष० त०) अथवा गुणान् जानातीति गुणज्ञः गुण√ज्ञा+क 'आतोऽनुपसर्गे कः' इत्यनेन, (उपपद स०) । (५) दर्शनीयः—सुन्दर । √दृश्+अनीयर् । तुलना कीजिए—'यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्था-स्तस्य बान्धवाः । यस्यार्थाः स पुमान् लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः' ।

इस श्लोक मे भी काव्यलिंग अलंकार है, क्योंकि धनी व्यक्ति के कुलीन आदि होने मे श्लोक का अन्तिम चरण कारण रूप मे उपन्यस्त है। यहाँ अतिशयोक्ति भी है। इसमे छन्द उपजाति है। उपजाति का लक्षण— स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः, उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ। अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ, पादौ यदीयावुपजातयस्ताः। इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम।

कौन किसने नष्ट होता है—

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः संगात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात्।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रया-
न्मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागप्रमादाद्धनम् ॥३४॥

अन्वयः—नृपतिः दौर्मन्त्र्यात्, यतिः संगात्, सुतः लालनात्, विप्रः अनध्ययनात्, कुलं कुतनयात्, शीलम् खलोपासनात्, ह्रीः मद्यात्, कृषिः अनवेक्षणात्, स्नेहः प्रवासाश्रयात्, मैत्री अप्रणयात्, समृद्धिः अनयात्, धनम् त्यागप्रमादात् विनश्यति।

संस्कृत-व्याख्या—नृपतिः—राजा, दौर्मन्त्र्यात्—दुर्मन्त्रसेवनात्, यतिः—संन्यासी, संगात्—लोकसम्पर्कात्, सुतः—पुत्रः, लालनात्—अतिप्रेमवर्धनात्, विप्रः—ब्राह्मणः, अनध्ययनात्—शास्त्रापठनात्, कुलं—वंशः, कुतनयात्—कुपुत्रात्, शीलं—सच्चरित्रं, खलोपासनात्—खलानां दुष्टानाम् उपासनात् संसर्गात्, ह्रीः—लज्जा, मद्यात्—सुरापानात्, कृषिः—सस्यम् कृषकर्म वा, अनवेक्षणात्—निरीक्षणाभावात्, स्नेहः—प्रेम, प्रवासाश्रयात्—परदेशवासात्, मैत्री—मित्रता, अप्रणयात्—स्नेहाभावात्, समृद्धिः—धनधान्यसुखादिवृद्धिः, अनयात्—नीतिराहित्यात्, धनं—वित्तं, त्यागप्रमादात्—त्यागे व्यये प्रमादात् अनवधानतया, विनश्यति—नाशं प्राप्नोति।

अनुवाद—कुमंत्रणा से राजा का नाश होता है, आसक्ति से यति का, दुलार करने से पुत्र का और शास्त्र का अध्ययन न करने से ब्राह्मण का, बुरे पुत्र से वंश का और दुष्टों की संगति से शील का नाश होता है। मद्य-पान

करने से लाज जाती रहती है, अपने से नहीं देखने से खेती चौपट हो जाती है, विदेश में रहने से स्नेह का नाश हो जाता है, परस्पर अनुराग न दिखाने से दोस्ती नष्ट हो जाती है। अन्याय से समृद्धि का नाश होता है और खर्चेदारी में लापरवाही करने से धन का नाश हो जाता है।

A king is ruined on account of evil counsel; a hermit on account of attachment (to worldly pleasures); a son owing to overindulgence; a Brahman for want of (Vedic) study; a family owing to a bad son, good character, because of the association with the wicked; modesty owing to wine; agriculture for want of proper attention; affection owing to living abroad; friendship for want of mutual attachment (courtesy); prosperity on account of bad policy; and wealth owing to carelessness in expenditure.

संस्कृत-भावार्थ—दुर्मन्त्रणानो राजा, लोकसंगात् योगी, अतिप्रेमदर्शनात् पुत्रः, वेदशास्त्रादेः अनध्ययनात् ब्राह्मणः, दुष्टानां सेवनात् शीलं, मद्यपानात् लज्जा, अनवलोकनात् कृषिः, परदेशवासात् स्नेहः, अस्नेहात् मैत्री, दुर्नयात् ऐश्वर्य तथा व्यये प्रमादात् धनं नश्यति। अतः राजादिभिः दुर्मन्त्रणादिदुर्गुणाः सर्वथा त्याज्याः।

टिप्पणी—(१) नृपतिः—राजा। √पा+डति=पतिः। नृणां पतिः नृपतिः (ष० त०)। (२) दौर्मन्त्र्यात्—कुमंत्रणा या बुरी सलाह से। दुष्टः मन्त्रः षाड्गुण्यचिन्तनं यस्य स दुर्मन्त्रः (प्रा० ब० स०), तस्य भावः दौर्मन्त्र्यम् दुर्मन्त्र+ष्यञ्, तस्मात्। हेतौ पञ्चमी। यहाँ सभी पञ्चम्यन्त पदों में हेतौ पञ्चमी है। (३) यतिः संगात्—योगी या संन्यासी लोक-सम्पर्क या आसक्ति से (नष्ट होता है)। (४) लालनात्—बहुत लाड़-प्यार करने से। कहा भी है—'लालनाद् बहवो दोषास्ताडनाद्बहवो गुणाः। तस्मात्पुत्रं च शिष्यं च ताडयेन्न तु लालयेत्॥' (५) अनध्ययनात्—शास्त्र का अध्ययन न करने से। अधि√इ+ल्युट्—अन=अध्ययनम्, न अध्ययनम् (न० त०), तस्मात्। कहा भी है—'वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो विप्रः सर्वत्र पूज्यते। अनधीतश्रुतिर्विप्रः सभामध्ये न शोभते॥' अथवा विना विद्या के विप्र कहलाने का अधिकार ही नहीं प्राप्त होता—'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं

त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥' (६) कुतनयात्—कुपुत्र से । कहा भी है—'कुपुत्रस्तु कुले जातः स्वकुलं नाशयेत् परम्'। तनोति विस्तारयति कुलम् इति तनयः √तन्+कयन् (उणादि)। कुत्सितः तनयः कुतनयः (प्रा० स०), तस्मात्। (७) खलोपासनात्—दुष्टों की सेवा से। (८) अनवेक्षणात्—देखभाल न करने से। अव√ईक्ष्+ल्युट्=अवेक्षणम्, न अवेक्षणम् अनवेक्षणम् (न० त०), तस्मात्। (९) अप्रणयात्—प्रेम न करने से। स्वाभाविक है कि स्नेह या प्रेम न दिखाने से मित्रता नष्ट हो जाती है। (१०) त्यागप्रमादात्—दान या व्यय में प्रमाद या असावधानी करने से। √त्यज्+घञ्=त्यागः। प्र√मद्+घञ्=प्रमादः। त्यागे प्रमादः (स० त०), तस्मात्।

इस श्लोक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत सब विनाश रूप सामान्य धर्म से सम्बद्ध हैं, अतएव दीपक अलंकार है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

धन की तीन दशायें—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥३५॥

अन्वयः—दानं भोगो नाशः वित्तस्य तिस्रः गतयः भवन्ति। यः न ददाति न भुङ्क्ते तस्य (वित्तस्य) तृतीया गतिः भवति।

संस्कृत-व्याख्या—दानं—सत्पात्रे व्ययः, भोगः—सम्पत्तिजन्यसुखानुभवः, नाशः—क्षयः, वित्तस्य—धनस्य, तिस्रः, गतयः—गमनोपायाः, भवन्ति—जायन्ते। यः—नरः, न ददाति—न प्रयच्छति (याचकेभ्यः), न भुङ्क्ते—न उपभोगं करोति, तस्य—नरस्य, (वित्तस्य) तृतीया—नाशलक्षणा, गतिः—उपायः, भवति—जायते।

अनुवाद—धन की तीन ही गतियाँ होती हैं—दान, भोग और नाश। जो नहीं देता और नहीं खाता है उसके धन की तो तीसरी ही गति होती है।

Charity, enjoyment, and destruction are the three courses of passing away of wealth. He who does neither give nor enjoy, has only the third course (destruction) left for his wealth.

संस्कृत-भावार्थ—धनं दातव्यं भोक्तव्यं च, अन्यथा चौर्यादिना तत् नश्यति; यतो हि दानं भोगो नाशः—इमाः तिस्रः एव गतयः धनस्य भवन्ति।

टिप्पणी—(१) दानम्—देना। √दा+ल्युट्। (२) भोगः—उपभोग करना। √भुज्+घञ्। (३) नाशः—नष्ट होना। √नश्+घञ्। (४) तृतीया—तीसरी (गति अर्थात् नाश)। अन्यत्र भी कहा है—'चत्वारो धनदायादाः धर्माग्निनृपतस्कराः। तेषां ज्येष्ठावमानेन त्रयः कुप्यन्ति सोदराः॥'

इस श्लोक में आर्या छन्द है।

दान करके निर्धन होना भी गौरव है—

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितो
मदक्षीणो नागः शरदि सरिदाश्यानपुलिना।
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नराः॥३६॥

अन्वयः—शाणोल्लीढः मणिः, हेतिदलितः समरविजयी, मदक्षीणः नागः, शरदि आश्यानपुलिना सरित्, कलाशेषः चन्द्रः, सुरतमृदिता बालवनिता, अर्थिषु गलितविभवाः नराः च, तनिम्ना शोभन्ते।

संस्कृत-व्याख्या—शाणोल्लीढः—शाणः शस्त्रोत्तेजनशाणप्रस्तरखण्डः तेन उल्लीढः उत्तेजितः, मणिः—रत्नं, हेतिदलितः—हेतिभिः शस्त्रैः दलितः क्षतविक्षतः, समरविजयी—युद्धविजेता मदक्षीणः—मदेन दानजलेन क्षीणः कृशः, नागः—गजः, शरदि—शरदृतौ, आश्यानपुलिना—आश्यानानि ईषच्छुष्काणि पुलिनानि सैकतानि यस्याः तादृशी, सरित्—नदी, कलाशेषः—षोडशांशमात्रावशिष्टः, चन्द्रः—इन्दुः, सुरतमृदिता—सुरतेन रतिक्रीडया मृदिता लुलिता, बालवनिता—मुग्धाङ्गना, अर्थिषु—याचकेषु, गलितविभवाः—दत्तधनाः, नराः—मनुष्याः, च, तनिम्ना—तनुत्वेन शोभन्ते—राजन्ते।

अनुवाद—शान पर चिकनाया हुआ मणि, शस्त्राहत समरविजयी योद्धा, मद चूने के कारण क्षीणकाय हाथी, शरद् काल में निकली हुई नदी, दूज का चाँद, सुरत में मसली हुई नवयुवती और दान देते-देते जिनकी सम्पत्ति कम हो गई है ऐसे दानी पुरुष, ये सब क्षीणता ही के कारण शोभते हैं अर्थात् क्षीण होने से ही ये सब शोभित होते हैं।

A gem polished on a whetting-stone; a war-victor wounded with weapons, an elephant emaciated on account of rutting, a

river with her sandy beach shrunken in autumn, the moon with his only digit left, a damsel languished in amorous sports, and men whose wealth is showered on the supplicant all these look beautiful by their slenderness.

संस्कृत-भावार्थ—शाणोत्तेजितो मणिः, शस्त्रक्षतः समरविजयी योद्धा, मदक्षीणो गजः, शरदृतौ शुष्कतटा नदी, कलामात्रेणावशिष्टः चन्द्रः, रतिक्रीडायां शिथिलीकृतशरीरा नवयुवती तथा दाने दत्तधनाः मनुष्याः कृशत्वेन शोभन्ते अर्थात् एवंभूता कृशता तेषां शोभाहेतुः ।

टिप्पणी—(१) शाणोल्लीढः—शान पर घिसा हुआ या चिकनाया हुआ मणि । उद्√लिह्+क्त कर्मणि, 'तोर्लि' इति सूत्रेण तस्य लः=उल्लीढः । शाणेन उल्लीढः (तृ० त०) । (२) हेतिदलितः—शस्त्रों से आहत किया हुआ । हेतिभिः दलितः (तृ० त०) । (३) समरविजयी—युद्ध-विजयी (योद्धा) । समरं समरे वा विजेतुं शीलमस्य इति समरविजयी समर—वि√जि+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये, उपपद स० । (४) मदक्षीणः—मद-स्राव होने से दुर्बल । √क्षि+क्त कर्तरि, 'निष्ठायामण्यदर्थे' इति सूत्रेण दीर्घः, 'क्षियो दीर्घात्' इत्यनेन तस्य नः । मदेन क्षीणः (तृ० त०) । (५) आश्यानपुलिना—कुछ-कुछ सूखे हुए तटों वाली या सिकुड़ी हुई (नदी) । √श्यै+क्त, 'श्योऽस्पर्शे' इति सूत्रेण तस्य नः । 'संश्यानो वृश्चिकः । शीतात्संकुचित इत्यर्थः' सिद्धान्तकौमुदी । आ ईषत् श्यानानि आश्यानानि (प्रा० स०), आश्यानानि पुलिनानि यस्याः सा आश्यानपुलिना (ब० स०) । शरद् ऋतु में नदियों के तट कुछ सूख ही जाते हैं और नदियाँ सिकुड़कर अपने उचित स्थान पर चली जाती हैं । (६) कलाशेषः—जिसकी एक ही कला शेष रह गई हो । कला एव शेषो यस्य सः (ब० स०) । 'कला तु षोडशो भागः' इत्यमरः । एक कलात्मक चन्द्रमा दर्शनीय एवं पूजनीय होता है । तुलना कीजिए—'पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः' (रघु० ५, १६) । (७) सुरतमृदिता—संभोग में मसली हुई । सुरतेन मृदिता (तृ० त०) । (८) बालवनिता—नवयुवती । बाला चासौ वनिता (कर्म० स०) । (९) अर्थिषु—याचकों में । √अर्थ+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये=अर्थिनः, तेषु । अत्र विषयाधिकरणे सप्तमी । (१०) गलितविभवाः—जिनका धन क्षीण या व्यय हो चुका हो । गलितः विभवः येषां ते (ब० स०) ।

(११) तनिम्ना शोभन्ते—क्षीण होने से सुन्दर लगते हैं। तनोर्भावः तनिमा तनु+इमनिच्, तेन।

इस श्लोक में एक ही क्रिया 'शोभन्ते' का प्रकृत 'नराः' और अप्रकृत 'मणिः' आदि के साथ सम्बन्ध होने के कारण दीपक अलंकार है। इसमें शिखरिणी छन्द है।

परिस्थिति के अनुसार ही वस्तु का लाघव या गौरव होता है—

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये
स पश्चात्सम्पूर्णः कलयति धरित्रीं तृणसमाम्।
अतश्चानेकान्ता गुरुलघुतयार्थेषु धनिना-
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च ॥३७॥

अन्वयः—कश्चित् (धनिकः) परिक्षीणः (सन्) यवानाम् प्रसृतये स्पृहयति, स पश्चात् संपूर्णः सन् धरित्रीम् तृणसमाम् कलयति, अतः अर्थेषु गुरुलघुतया च अनेकान्ता, धनिनाम् अवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च।

संस्कृत-व्याख्या—कश्चित्—कोऽपि (पुरुषः), परिक्षीणः—अकिञ्चनतां गतः (सन्), यवानां—धान्यविशेषाणां, प्रसृतये—सामस्त्येन कुञ्जीकृताय पाणये प्रसृतिमात्रयवेभ्य इत्यर्थः, स्पृहयति—काङ्क्षति, सः—पुरुषः, पश्चात्—अनन्तरम्, सम्पूर्णः—धनसम्पन्नः (सन्), धरित्रीं—पृथिवीं, तृणसमां—तृणतुल्यां, कलयति—गणयति, अतः—अस्मात् कारणात्, अर्थेषु—वित्तेषु, गुरुलघुतया—महत्त्वाल्पत्वभावेन, च, अनेकान्ता—अनियतरूपा, धनिनां—धनवताम्, अवस्था—दशा, वस्तूनि—पदार्थान्, प्रथयति च—विस्तारयति च, संकोचयति च—संकुचितानि करोति च।

अनुवाद—दरिद्रता की हालत में मनुष्य एक मुट्ठी जौ के लिए भी ललाता रहता है फिर वही आदमी जब धन-धान्य से परिपूर्ण हो जाता है तो सारी पृथ्वी को तृण के समान समझता है। अतः पदार्थों की लघुता और गुरुता के विषय में कोई स्थिरता नहीं। धनिकों की अवस्था ही पदार्थों को बड़ा या छोटा बनाती है।

A man in straitened circumstances aspires for a handful of barley, but when afterwards he is full of wealth, he regards

the whole earth as a straw. Hence there is no fixity regarding largeness and smallness of the objects. The state of the rich magnifies and minimises things.

संस्कृत-भावार्थ—वस्तूनां गुरुत्वं लघुत्वं वा नियतं नास्ति । यतो हि पुरुषस्य नीचदशायाम् अल्पमपि वस्तु महत् भाति तथा उच्चदशायां महत् अपि वस्तु अल्पं प्रतिभाति । अर्थात् क्षीणदशा लघ्वपि वस्तु गुरूकरोति तथासम्पन्नावस्था गुरु अपि वस्तु लघूकरोति । अतो विवेकिना सदा समबुद्धिना भाव्यम् ।

टिप्पणी—(१) परिक्षीणः—दरिद्र होने पर । परि√क्षि+क्त, दीर्घः, तस्य नः 'क्षियो दीर्घात्' इत्यनेन । (२) प्रसृतये—मुट्ठी भर के लिए । ईषत्संकुचित अंगुलिसहित हाथ या लप को प्रसृति कहते हैं । 'पाणिर्निकुब्जः प्रसृतिः' इत्यमरः । अत्र 'स्पृहेरीप्सितः' इति सूत्रेण चतुर्थी । (३) सम्पूर्णः—भरा पूरा । सम्√पृ+क्त । (४) कलयति—गिनता है या समझता है । 'अनेकार्थाः धातवः' । (५) तृणसमाम्—तिनके के बराबर । तृणेन समा (तृ० त०), ताम् । (६) गुरुलघुतया—गुरुत्व और लघुत्व के कारण या बड़ी और छोटी होने के कारण । गुरुश्च लघुश्च इति गुरुलघू (द्व० स०), तयोर्भाव गुरुलघुता गुरुलघु+तल्+टाप्, तया । हेतौ तृतीया । (७) अनेकान्ता—जिसका कोई निश्चित रूप न हो । एकः अन्तः यस्याः सा एकान्ता (ब० स०), न एकान्ता अनेकान्ता (न० त०) । यह 'अवस्था' का विशेषण है । (८) अवस्था—दशा, स्थिति । अव√स्था+अङ 'आतश्चोपसर्गे' इत्यनेन, ततः टाप् । (९) प्रथयति—फैलाती है । √प्रथ्+णिच्+लट्—तिप् । (१०) संकोचयति—संकुचित या संकीर्ण बनाती है । सम्√कुच्+णिच्+लट्—तिप् ।

इस श्लोक में शिखरिणी छन्द है ।

प्रजापालन से ही सर्वार्थसिद्धि—

राजन् ! दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेनां
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण ।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपुष्यमाणे
नानाफलं फलति कल्पलतेव भूमिः ॥३८॥

अन्वयः—हे राजन् ! यदि एनाम् क्षितिधेनुम् दुधुक्षसि, तेन अद्य अमुम् लोकम् वत्सम् इव पुषाण । तस्मिन् च अनिशम् सम्यक् परिपुष्यमाणे भूमिः कल्पलता इव नानाफलम् फलति ।

संस्कृत-व्याख्या—राजन्—नृपते, यदि—चेत्, एनाम्—एतां, क्षितिधेनुं—गोसदृशीं पृथिवीं, दुधुक्षसि—दोग्धुमिच्छसि, तर्हि, तेन—कारणेन, अद्य—इदानीम्, अमुम्—इमं, लोकं—जनं, वत्सं—गोवत्सं तर्णकम्, इव, पुषाण—पालय । तस्मिन्—लोके, अनिशं—सततं, सम्यक्—सुष्ठुरूपेण, परिपुष्यमाणे—परिपाल्यमाने, भूमिः—पृथ्वी, कल्पलता इव—कल्पवल्लीव, नानाफलं—बहुविधफलं, फलति—निष्पादयति ।

अनुवाद—हे राजन् ! यदि आप इस पृथ्वीरूपी धेनु को दुहना चाहते हैं तो बछड़े के समान लोगों को अब पोसो । जब यह अच्छी तरह से पाली-पोसी जायगी तो यह पृथ्वी कल्प-वृक्ष की जैसी बहुत फलेगी ।

O King, if you desire to milk this cow-like earth, then nourish (enrich) now the people like a calf. When the people is always nourished (enriched) well, the earth, like the Kalpatree bears fruits of various kinds.

संस्कृत-भावार्थ—रत्नगर्भायाः वसुन्धरायाः रत्नानि उद्धर्तुं राज्ञा सततं सावधानमनसा प्रजापालनं कर्तव्यम् । यथा वत्सेषु जीवत्सु गौर्दुग्धं दातुं प्रभवति तथैव प्रजाजनेषु सुखं जीवत्स्वेव तेभ्यः कृष्यादिद्वारा राज्ञा भूमितः सस्यादि फलं सम्प्राप्तुं शक्यम् ।

टिप्पणी—(१) एनाम्—यह इदम् और एतत् शब्दों के द्वितीया-एकवचन में अन्वादेश का रूप है । इसमें 'द्वितीया टौस्स्वेनः' सूत्र से एन आदेश हो जाता है । (२) क्षितिधेनुम्—पृथ्वी रूपी गौ को । क्षितिः धेनुः इव इति (उपमित स०), ताम् । (३) दुधुक्षसि—दुहना चाहते हो । दोग्धुम् इच्छसि इति √दुह्+सन्+लट् । दुह् धातु द्विकर्मक है, किन्तु यहाँ एक ही कर्म 'क्षितिधेनुम्' उपात्त है, अतः 'अर्थम्' इसका प्रधानकर्म जोड़ देना चाहिए । (४) तेन—अत्र हेतौ तृतीया । (५) पुषाण—पोषण करो । यहाँ पुष् धातु क्र्यादिगणीय है । इसके रूप—पुष्णाति, पुपोष, अपोषीत् । (६) परिपुष्यमाणे—अच्छी तरह पोषण

किये जाने पर। परि√पुष्+लट् कर्मणि, यक्+शानच्=परिपुष्यमाणः, तस्मिन्। (७) नानाफलम्—अनेक प्रकार का फल। नाना फलम् (सुप्सुपा. स०)।

इस श्लोक में 'क्षितिधेनुम्' तथा 'लोकं वत्सम् इव' में उपमा अलंकार है। इसमें वसन्ततिलका छन्द है।

राजनीति की वेश्या से तुलना—

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥३६॥

अन्वयः—सत्या अनृता च, परुषा प्रियवादिनी च, हिंस्रा दयालुः अपि, अर्थपरा वदान्या च, नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च, वाराङ्गना इव नृपनीतिः अनेकरूपा (अस्ति)।

संस्कृत-व्याख्या—सत्या—यथार्थरूपा, अनृता—मिथ्यारूपा, परुषा—कठोरा, प्रियवादिनी—प्रियंवदा, च, हिंस्रा—घातुका, दयालुः अपि—कारुणिका च, अर्थपरा—धनलुब्धा, वदान्या च—दानशौण्डा च, नित्यव्यया—नित्यव्ययकारिणी, प्रचुरनित्यधनागमा च—प्रचुरः बहुलः नित्यः अनवरतः धनागमः धनप्राप्तिः यस्याः तादृशी च, वाराङ्गना इव—वेश्या इव, नृपनीतिः—राजनीतिः, अनेकरूपा—बहुरूपा (अस्ति)।

अनुवाद—कभी सच्ची और कभी झूठी, कभी कटु-भाषिणी और कभी मधुरभाषिणी, कभी हिंसक और कभी दयालु, कभी धन-लोलुप और कभी उदार, कभी खूब खर्च करने वाली और कभी खूब धन संचय करने वाली, राजनीति वेश्या के समान अनेक रूप धारण करती है।

Now truthful, now false; now harsh-speaking, now sweet-speaking; now cruel, afterwards merciful: now miserly and then liberal; ever-spending wealth and yet ever-gaining plenty of wealth, thus the statesmanship of a king like a harlot assumes diverse forms.

संस्कृत-भावार्थ—सत्यासत्यादिभिः परस्परविरुद्धैर्द्वन्द्वगुणैरजिता राज्ञो नीतिः वेश्या इव नानारूपैः शोभते ।

टिप्पणी—(१) **सत्या**—सच्ची । सते हितं सत्यम् सत्+यत्, सत्यम् अस्ति अस्याम् इति सत्या सत्य+अच्+टाप् । (२) **अनृता**—झूठी । अनृतम्=असत्यम्, तत् अस्ति अस्याम् इति अनृत+अच्+टाप् । (३) **परुषा**—कठोर, कटु । √पॄ+उषन्+टाप् । (४) **प्रियवादिनी**—प्रिय बोलने वाली । प्रियं वदितुं शीलं यस्याः सा प्रियवादिनी प्रिय√वद्+णिनि कर्तरि+ङीप् । (५) **हिंस्रा**—हिंसक । √हिंस्+र 'नमिकम्पि'—इत्यादिना, टाप् । (६) **दयालु**—दयावती । √दय्+आलुच् 'स्पृहिगृहिपतिदयि—' इत्यादिना । (७) **अर्थपरा**—धनलोलुप । अर्थः एव परं प्रधानं यस्याः सा (ब० स०) । (८) **वदान्या**—अतिशयदानी । √वद्+आन्य+टाप् । (९) **नित्यव्यया**—निरन्तर व्यय करने वाली । नित्यं व्ययो यस्याः सा (ब० स०) । (१०) **प्रचुरनित्यधनागमा**—नित्य प्रचुर धन प्राप्त करने वाली । धनस्य आगमः (ष० त०) । नित्यं धनागमः (सुप्सुपा स०) । प्रचुरः नित्यधनागमः यस्याः सा प्रचुरनित्यधनागमा (ब० स०) । (११) **वाराङ्गना**—वेश्या । वारस्य जनसमूहस्य अङ्गना, स्त्री अथवा वारे अवसरे सति यस्य कस्यापि अङ्गना इति । (१२) **अनेकरूपा**—अनेक रूप धारण करने वाली । अनेकानि रूपाणि यस्याः सा (ब० स०) ।

इस श्लोक में श्रवणमात्र से विरोध का आभास होने के कारण विरोधाभास अलंकार है और वह 'वाराङ्गना इव' में स्थित उपमा अलंकार से संकीर्ण है । इसमें वसन्ततिलका छन्द है ।

राजाओं के छह गुण—

> **आज्ञा कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां**
> **दानं भोगो मित्रसंरक्षणं च ।**
> **येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः**
> **कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण ॥४०॥**

अन्वयः—आज्ञा कीर्तिः ब्राह्मणानां पालनम् दानम् भोगः मित्रसंरक्षणम् च येषाम् एते षड्गुणाः न प्रवृत्ताः, तेषाम् उपाश्रयेण हे पार्थिव ! कः अर्थः ?

संस्कृत-व्याख्या—आज्ञा—आदेशः, कीर्तिः—यशः, ब्राह्मणानां—विप्राणां, पालनं—सन्तर्पणं, दानं—सत्पात्रे धनत्यागः, भोगः—सम्पत्तिजन्यसुखानुभवः, मित्रसंरक्षणं—सुहृज्जनरक्षा, च, येषां—राज्ञां, न प्रवृत्ताः—न प्रवर्तन्ते, तेषां—राज्ञाम्, उपाश्रयेण—सेवनेन, पार्थिव—हे राजन् !, कः अर्थः—को लाभः ? न कोऽपीत्यर्थः ।

अनुवाद—आज्ञा पालन कराना, कीर्ति फैलाना, ब्राह्मणों का पालन करना, दान देना, भोग करना और मित्र की रक्षा करना—जिनमें ये छहों गुण नहीं हैं, उन राजाओं की सेवा करने से क्या लाभ ।

O ! king, what is the use of taking shelter under those kings who have not got these six qualities (in them)—the power to enforce command, fame, the protection of Brahmanas; charity, the enjoyment (of worldly pleasures), and the protection of friends.

संस्कृत-भावार्थ—अप्रतिहतशासनशक्त्या यशसा मित्र-ब्राह्मण-संरक्षण-प्रेम्णा दानेन भोगेन च विरहितानां राज्ञां सेवनम् अकिञ्चित्करम्, अतः उक्तगुणसम्पन्नः एव राजा आश्रयणीयः ।

टिप्पणी—(१) आज्ञा—आदेश । यहाँ आज्ञा पालन कराने की शक्ति से तात्पर्य है । आ√ज्ञा+अङ् 'आतश्चोपसर्गे' इत्यनेन, टाप् । (२) ब्राह्मणानां पालनम्—ब्राह्मणों की रक्षा । यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द उपलक्षण है । सब लोगों की रक्षा से तात्पर्य है । वैसे ब्राह्मण पहले धर्म, सभ्यता, संस्कृति के उन्नायक एवं संरक्षक होने से राजाओं की सहायता के विशेष पात्र होते थे । (३) उपाश्रयेण—आश्रय ग्रहण करने या सेवन करने से । उप-आ√श्रि+अच्=उपाश्रयः, तेन । करणे तृतीया । उपाश्रयेण कः लाभः साध्यते । साधनक्रियां प्रति करणम् । 'क्वचित् गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' । यहाँ 'पार्थिव' और 'उपाश्रयेण' अलग-अलग पद मानना चाहिए । एक पद मानने पर 'पार्थिव' का 'तेषां' के साथ सम्बन्ध होने से 'पार्थिवानाम् उपाश्रयः पार्थिवोपाश्रयः' में सामर्थ्याभावात् समास नहीं होगा । यदि 'सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः' मान लें तो काम चल सकता है । तब 'पार्थिव' सम्बोधनान्त पद मानने की आवश्यकता नहीं है ।

इस श्लोक में शालिनी छन्द है। छन्द का लक्षण 'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः'।

भाग्य के अनुसार ही धन मिलता है—

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनं
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ च नातोऽधिकम् ।
तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ॥४१॥

अन्वयः—धात्रा स्तोकम् महत् वा यद् धनम् निजभालपट्टलिखितम् तत् मरुस्थले अपि नितराम् प्राप्नोति, मेरौ च अतः अधिकम् न (प्राप्नोति)। तत् धीरः भव, वित्तवत्सु कृपणाम् वृत्तिम् वृथा मा कृथाः, कूपे पयोनिधौ अपि घटः तुल्यम् जलम् गृह्णाति इति पश्य।

संस्कृत-व्याख्या—धात्रा—ब्रह्मणा, स्तोकम्—अल्पं, महत् वा—अधिकं वा, यत्, धनं—वसु, निजभालपट्टलिखितं—निजं स्वकीयं भालं ललाटम् एव पट्टं तत्र लिखितं निर्दिष्टं, तत्—धनं, मरुस्थलेऽपि—मरुभूमावपि, नितरां—साकल्येन, प्राप्नोति—लभते, मेरौ च—सुमेरुपर्वते च, अतः—ब्रह्मलिखितात्, अधिकं—ज्यायः, न—नहि (प्राप्नोति)। तत्—तस्मात्, धीरः—स्थिरचित्तः, भव, वित्तवत्सु—धनिषु, कृपणां—दीनां, वृत्तिं—व्यापारं, वृथा—व्यर्थं, मा कृथाः—मा कार्षीः, कूपे—अन्धौ, पयोनिधौ—समुद्रे, अपि, घटः—कलशः, तुल्यं—समानं, जलं—वारि, गृह्णाति—आदत्ते नतु कूपे अल्पम् पयोनिधौ च अधिकम्, (इति) पश्य—अवलोकय।

अनुवाद—विधाता ने ललाट में जो थोड़ा या बहुत धन लिख दिया है, वह सम्पूर्ण मरुभूमि या मेरु पर्वत पर मिलेगा ही। तब हे मनुष्य! धीरज धरो, धनिकों के निकट अपनी दीन वृत्ति मत दिखाओ अर्थात् धनियों के सामने मत घिघिआओ। देखो, घड़ा कूप में भरो या समुद्र में, उतना ही पानी ग्रहण करता है जितना उसमें अँटता है।

Even in desert or on mountain Meru, a man gets entirely that amount of wealth, little or much as has been lotted by

.ne creator on the tablet of his forehead, and he does not get more than that even on Meru. Therefore be equanimous-minded; do not behave abjectly in vain towards the wealthy. Behold, a pitcher takes only as much water as it can contain from a well or from a sea.

संस्कृत-भावार्थ—नरस्य ललाटे ब्रह्मणा अल्पं वा बहु वा यत् धनं लिखितं तत् स कुत्रापि प्राप्नोत्येव। अतः तेन स्थिरचित्तेन भाव्यम्। धनिनः स्वीयां दीनां चेष्टां न दर्शयेत्। अत्र दृष्टान्तः—घटः कूपे समुद्रे वा तुल्यमेव जलं गृह्णाति न तु कूपे अल्पं समुद्रे च अधिकम्। तथैव नरः मेरौ वा मरौ वा स्वभाग्यानुसारम् अल्पं वा बहु वा धनं समानरूपेणैव ग्रहीतुं शक्नोति। तर्हि धनिनां पुरतो दीनताप्रदर्शनेन को लाभः?

टिप्पणी—(१) **धात्रा**—ब्रह्मा ने। √धा+तृच्=धाता, तेन। अनुक्ते कर्तरि तृतीया। (२) **निजभालपट्टलिखितम्**—अपने ललाट में लिख दिया है। निजं भालम् (कर्म० स०), निजभालम् एव पट्टम् (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकरूपस०), तस्मिन् लिखितम् (स० त०)। (३) **मरुस्थले**—मरुभूमि में। म्रियन्तेऽस्मिन् प्राणिनो जलाभावात् इति मरुः√मृ+उ (उणादि)। मरु एव स्थलम् (मयू० रूपकस०), तस्मिन्। अधिकरणे सप्तमी। (४) **मेरौ**—सुमेरु पर्वत पर। कहते हैं कि सुमेरु सबसे ऊँचा सोने का पर्वत है। इसके चारों ओर सम्पूर्ण नक्षत्रों के सहित समस्त वायुमंडल भ्रमण करता है। (५) **वित्तवत्सु**—धनवानों के आगे! वित्तमस्ति येषां ते वित्तमन्तः वित्त+मतुप्, मस्य वः=वित्तवन्तः, तेषु। विषयाधिकरणे सप्तमी। (६) **कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः**—दीन वृत्ति मत दिखाओ। मा कृथाः—√कृ+लुङ्—थास्, 'माङि लुङ्' इत्यनेन अत्र माङ्योगे लुङ्, 'न माङ्योगे' इत्यनेन अडागमनिषेधः। (७) **तुल्यम्**—आत्मपरिमित अर्थात् जितना पात्र के अन्दर भरा जा सके उतना। कोई भी पात्र अपनी धारण-क्षमता से अधिक जल नहीं ले सकता है। उसी तरह मनुष्य के भाग्य की जितनी धारण-शक्ति होगी उतना ही धन वह ले सकेगा चाहे कहीं भी जाय। इसलिए मनुष्य को सदा सन्तुष्ट रहना चाहिए, यह शिक्षा इस श्लोक में दी गई है।

इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

अथ दुर्जनपद्धतिः

अकरुणत्वमकारणविग्रहः परधने परयोषिति च स्पृहा
सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम् ॥४२॥

अन्वयः—अकरुणत्वम् अकारणविग्रहः परधने परयोषिति च स्पृहा सुजन-बन्धुजनेषु असहिष्णुता—इदम् (सर्वम्) दुरात्मनाम् प्रकृतिसिद्धम् हि ।

संस्कृत-व्याख्या—अकरुणत्वं—दयाहीनत्वम्, अकारणविग्रहः—निष्कारण-कलहः, परधने—परकीये वित्ते, परयोषिति च—अन्यस्य पत्न्यां च, स्पृहा—अभिलाषः, सुजनबन्धुजनेषु—सुजनेषु सज्जनेषु बन्धुजनेषु ज्ञातिवर्गे, असहिष्णुता असहनशीलता, इदं (सर्वं), हि—निश्चयेन, दुरात्मनां—दुर्जनानां, प्रकृतिसिद्धं—स्वभावसिद्धम् ।

अनुवाद—दया न दिखाना, बिना कारण ही झगड़ना, दूसरों के धन और दूसरों की स्त्री ले लेने की इच्छा करना; सुजनों और बन्धुजनों के प्रति सहिष्णुता न दिखाना—ये सब दुरात्माओं के स्वभावसिद्ध लक्षण हैं ।

Mercilessness, hostility without any cause, hankering after others' wealth and wife; intolerance of good men and relations; all these (traits) are natural with the wicked.

संस्कृत-भावार्थ—दुष्टपुरुषाणां स्वभाव एव एषः यत् ते दयाहीनाः भवन्ति निष्कारणं कलहायन्ते परस्य धनं दारांश्च कामयन्ते, सज्जनानां बान्धवानां च उत्कर्षं न सहन्ते ।

टिप्पणी—(१) अकरुणत्वम्—निर्दयता । अविद्यमाना करुणा यस्य स अकरुणः (न० ब० स०), अकरुणस्य भावः अकरुणत्वम् अकरुण+त्व । (२) अकारणविग्रहः—बिना कारण के झगड़ा करना । अविद्यमानं कारणं यस्य स अकारणः (न० ब० स०) अकारणश्चासौ विग्रहः (कर्म० स०) । वि√ग्रह्+अप् 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' इत्यनेन । (३) परधने—परस्य धनम् (ष० त०), तस्मिन् । विषयाधिकरणे सप्तमी । (४) परयोषिति—दूसरे की स्त्री में । परस्य योषित् (ष० त०), तस्याम् । विषयाधिकरणे सप्तमी । (५) स्पृहा—अभिलाषा । √स्पृह्+अङ्+टाप् । (६) सुजनबन्धुजनेषु—सज्जनों और बन्धुओं

के प्रति । शोभनाः जनाः सुजनाः (प्रा० स०) । बन्धव एव जनाः बन्धुजनाः (मयू० रूपक स०) । सुजनाश्च बन्धुजनाश्च (द्व० स०), तेषु । विषयाधिकरणे सप्तमी । (७) असहिष्णुता—सहन न करना । √सह्+इष्णुच् 'अलंकृञ्निराकृञ्'—इत्यादिना=सहिष्णुः, न सहिष्णुः असहिष्णुः (न० त०), तस्य भावः असहिष्णु+तल्+टाप् । (८) इदम्—यह एकवचन नपुंसक सर्वनाम अपने से पूर्व आये हुए पुंलिंग, नपुंसकलिंग तथा स्त्रीलिंग सभी शब्दों के लिए प्रयुक्त हुआ है । इसका कारण है कि 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्' सूत्र से नपुंसकता और एकवद्भाव यहाँ हो गया है । जैसे 'शुक्लः पटः, शुक्ला शाटी, शुक्लं वस्त्रम्' के लिए 'तदिदं शुक्लम्' प्रयोग होता है, उसी तरह यहाँ भी 'इमानि, इमे, इमाः' में एकशेष समास तथा उक्त सूत्र से नपुंसकत्व और एकवद्भाव हो जाने से 'इदम्' प्रयोग साधु है । (९) दुरात्मनाम्—दुष्टात्माओं का । दुष्टः आत्मा येषां ते दुरात्मानः (प्रा० ब० स०), तेषाम् । शेषे षष्ठी । (१०) प्रकृतिसिद्धम्—स्वभाव से ही प्राप्त । प्रकृत्या सिद्धम् (तृ० त०) । √सिध्+क्त कर्तरि=सिद्धम् ।

इस श्लोक में द्रुतविलम्बित छन्द है । छन्द का लक्षण—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' ।

दुर्जन की त्याज्यता—

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालंकृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ॥४३॥

अन्वयः—विद्यया अलंकृतः अपि सन् दुर्जनः परिहर्तव्यः । मणिना भूषितः असौ सर्पः किम् भयङ्करः न ।

संस्कृत-व्याख्या—विद्यया—शास्त्रज्ञानेन, अलंकृतः—भूषितः, अपि, सन्—भवन्, दुर्जनः—दुष्टः पुरुषः, परिहर्तव्यः—दूरतः त्याज्यः । मणिना—फणरत्नेन, भूषितः—अलङ्कृतः, असौ, सर्पः—भुजङ्गः, किम्, भयङ्करः—भयप्रदः, न ?

अनुवाद—दुर्जन चाहे विद्या-विभूषित भी हो तो भी उसका त्याग करना चाहिये । मणि से भूषित सर्प क्या भयङ्कर नहीं होता ?

A rogue should be shunned though adorned with learning. Is not a serpent dangerous though bedecked with a gem?

संस्कृत-भावार्थ——आपाततो रमणीयावगुणेन दर्शनीयोऽपि दुर्जनो विद्यालोभात् सर्प इव मणिलोभात् केनापि कदापि नोपसर्पणीयः, द्वयोरप्यनयोरतिभयङ्करयोः सर्वथा हानिकरत्वात् ।

टिप्पणी——(१) दुर्जनः——दुष्ट व्यक्ति । दुष्टः जनः दुर्जनः (प्रा० स०) । (२) परिहर्तव्यः——त्याग देने योग्य । परि√हृ+तव्यत् । (३) भयङ्करः——भयानक या प्राणघातक । भयं करोतीति भयङ्करः भय√कृ+खश् 'मेघर्तिभयेषु कृञः' इत्यनेन, ततः 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इत्यनेन मुमागमः ।

इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार है और अनुष्टुप् छन्द है । अनुष्टुप् का लक्षण——'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् । द्विचतुःपादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥'

दुर्जनों द्वारा गुणों में दोषत्वारोप

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतशुचौ दम्भः शुचौ कैतवं
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे
तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः ॥४४॥

अन्वयः——ह्रीमति जाड्यं गण्यते, व्रतशुचौ दम्भः, शुचौ कैतवं, शूरे निर्घृणता, मुनौ विमतिता, प्रियालापिनि दैन्यं, तेजस्विनि अवलिप्तता, वक्तरि मुखरता स्थिरे (जने) अशक्तिः (गण्यते) तत् गुणिनां को नाम गुणः भवेत् यः दुर्जनैः न अङ्कितः ?

संस्कृत-व्याख्या——ह्रीमति——लज्जाशीले जने, जाड्यं——जडता, गण्यते——मन्यते, व्रतशुचौ——व्रतैः तपोनियमैः शुचौ शुद्धे जने, दम्भः——पाखण्डत्वं, शुचौ——(स्वभावादेव) पवित्रे जने, कैतवं——शाठ्यं, शूरे——वीरे, निर्घृणता——निर्दयता, मुनौ——मननशीले जने, विमतिता——बुद्धिहीनता, प्रियालापिनि——प्रियवादिनि जने, दैन्यं——दीनता, तेजस्विनि——पराक्रमशीले जने, अवलिप्तता——गर्वः, वक्तरि——वाग्मिनि, मुखरता——वाचालता, स्थिरे——धीरे जने, अशक्तिः——असमर्थता

(गण्यते) । तत्—तस्मात् कारणात्, गुणिनां—गुणसम्पन्नानां, को नाम—किन्नामधेयः, गुणः—विशिष्टता, भवेत्—स्यात्, यः—गुणः, दुर्जनैः—दुरात्मभिः, न अङ्कितः—न कलङ्कितः ?

अनुवाद—दुर्जन लोग लज्जाशील पुरुष को जड़ और मतिमन्द कहते हैं, धार्मिक व्रती को पाखंडी, पवित्रात्मा को छलिया, शूर को निर्दय, मुनिजन को मतिहीन, मिष्टभाषी को दीन, तेजस्वी को अहंकारी, बोलने वाले को बड़बड़िया और धीर-स्थिर पुरुष को कमजोर कहते हैं । गुणियों का ऐसा कौन-सा गुण है जिसको दुर्जन लोग कलुषित नहीं ठहराते ?

Dulness is ascribed to a modest man (by the wicked); hypocrisy to one pure on account of religious observances: roguery to the pure; meanness to the sweetspeaker; haughtiness to the spirited; garrulity to an orator; imbecility to a steady man. What virtue of the meritorious (*virtuous*) is there that is not branded by the wicked ?

संस्कृत-भावार्थ—दुर्जनाः सत्पुरुषाणां गुणानपि दोषत्वेनैव गृह्णन्ति । यथा ते सज्जनानां लज्जाशीलत्वं जाड्यं व्रतशुचित्वं दम्भं वीरत्वं निर्दयत्वं मुनित्वं बुद्धिहीनत्वं प्रियवादित्वं दैन्यं तेजस्वितां गर्वं वक्तृत्वं मुखरत्वं तथा धैर्यम् अक्षमतां गणयन्ति । इत्थं गुणिनां कोऽपि गुणः एतादृशो नास्ति यो दुर्जनैः न दूष्यते ।

टिप्पणी—(१) ह्रीमति—लज्जाशील (व्यक्ति) में । ह्री+मतुप्=ह्रीमान्, तस्मिन् । अधिकरणे सप्तमी । (२) जाड्यम्—जडता । जडस्य भावः जाड्यम् जड+ष्यञ् । यहाँ 'जाड्यम्' आदि के साथ 'गुणः', 'दुर्जनैः' तथा 'गण्यते' ये तीनों शब्द जोड़कर अर्थ करना चाहिए । (३) व्रतशुचौ—व्रतों के द्वारा पवित्र (व्यक्ति) में । व्रतैः शुचिः (तृ० त०), तस्मिन् । यहाँ सभी सप्तम्यन्त पदों में अधिकरणे सप्तमी समझनी चाहिए । दम्भः—पाखंड । √दम्भ्+घञ् । 'व्रतशुचौ दम्भः' का स्पष्टार्थ है कि व्रतशुचिता रूपी गुण को दम्भ समझा जाता है । (४) शुचौ—(भीतर तथा बाहर से) पवित्र । (५) कैतवम् —शठता या धूर्तता । कितवस्य भावः कैतवम् कितव+अण् । (६) निर्घृणता —निर्दयता । निः नास्ति घृणा दया यस्य सः निर्घृणः (प्रा० ब० स०), निर्घृणस्य भावः निर्घृणता निर्घृण+तल्+टाप् । (७) मुनौ—ऋषि या मनन-

शील व्यक्ति में। मनुते असौ मुनिः√मन्+इन् 'सर्वधातुभ्यो इन्' इत्यनेन, 'मनेरुच्च इत्यनेन उत्वम्, तस्मिन्। (८) विमतिता—बुद्धिहीनता। विगता मतिः यस्य स विमतिः (प्रा० ब० स०), विमतेः भावः विमतिता विमति+तल् टाप्। (९) प्रियालापिनि—प्रियवक्ता। प्रियम् आलपितुं शीलं यस्य स प्रियालापी प्रिय-आ√लप्+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये, तस्मिन्। (१०) तेजस्विनि—पराक्रमी। तेजस्+विनि 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इत्यनेन। (११) अवलिप्तता—गर्व। अव√लिप्+क्त कर्तरि=अवलिप्तः, तस्य भावः अवलिप्तता—अवलिप्त+तल्+टाप्। (१२) वक्तरि—भाषणकर्ता। √वच्+तृच्, तस्मिन्। (१३) मुखरता—वाचालता, बकवादी। मुख+र+तल्+टाप्। (१४) अशक्तिः—शक्ति या सामर्थ्य का अभाव। न शक्तिः अशक्तिः (न० त०)। यहाँ नञ् का अर्थ अभाव है। नञ् के छह अर्थ होते हैं—'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥' (१) तत्सादृश्य—सदृशता, जैसे—अब्राह्मण। (२) अभाव—जैसे—अशक्ति। (३) तदन्यत्व—छोड़कर, अन्तर; जैसे—अविद्वान्। (४) तदल्पता—कम मात्रा में प्राप्त होना जैसे—अदोष। (५) अप्राशस्त्य—शोभन या उचित न होने का भाव, जैसे—अकाल। (६) विरोध—जैसे—अनादर।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

हेय और उपादेय का उपदेश—

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।
सौजन्यं यदि किं बलेन महिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना॥४५॥

अन्वयः—लोभः चेत् अस्ति अगुणेन किम्? पिशुनता यदि अस्ति, पातकैः किम्? सत्यम् चेत् अस्ति तपसा च किम्? मनः शुचि यदि अस्ति तीर्थेन किम्? सौजन्यं यदि अस्ति बलेन किम्? महिमा यदि अस्ति मण्डनैः किम्? सद्विद्या यदि अस्ति धनैः किम्? अपयशः यदि अस्ति मृत्युना किम्?

संस्कृत-व्याख्या—लोभः—धनादिवाञ्छा, चेत्—यदि, अस्ति—विद्यते (तर्हि) अगुणेन—दुर्गुणेन, किम्—साध्यते इति शेषः न किञ्चिदपीत्यर्थः, पिशु-

नता—परोक्षे परदोषसूचकता, यदि, अस्ति, पातकैः—पापैः, किम् ? सत्यं—यथार्थभाषणं, चेत्, अस्ति, तपसा च—व्रतनियमैश्च, किम् ? मनः—चित्तं शुचि—शुद्धं, यदि अस्ति, तीर्थेन—काशीप्रयागादितीर्थकरणेन, किम् ? सौजन्यं—सुजनता, यदि अस्ति, बलेन—शारीरिकशक्त्या परिजनेन वा, किम् ? महिमा—माहात्म्यं, यदि, अस्ति, मण्डनैः—भूषणैः—किम् ? सद्विद्या—सुविद्या, यदि, अस्ति, धनैः—वित्तैः किम् ? अपयशः—अपकीर्तिः यदि, अस्ति, मृत्युना—मरणेन, किम् ?

अनुवाद—लोभ यदि है तो और दुर्गुणों की क्या आवश्यकता ? चुगलखोरी है तो पापों का क्या प्रयोजन ? सत्य यदि है तो तप की क्या आवश्यकता ? मन यदि पवित्र है तो तीर्थाटन का क्या प्रयोजन ? सुजनता यदि है तो बल की क्या जरूरत ? यदि महिमा (बड़प्पन) है तो भूषणों का क्या प्रयोजन ? सुविद्या यदि पास में है तो धन की क्या आवश्यकता ? अपयश यदि है तो मृत्यु की क्या आवश्यकता ?

If a man has avarice, why should he require other bad qualities ? If he has a back-biting nature, why should he want sins ? If truth, what is the use of austerity ? If pure mind, then what is the use of pilgrimage ? If nobility (of heart), what is the use of strength ? If has glory, what is the use of ornaments ? If good learning, what is the use of wealth ? If ill name, why should he need death ?

संस्कृत-भावार्थ—यदि पुरुषे लोभो विद्यते तर्हि तस्य अन्येन दुर्गुणेन न किञ्चिदपि साध्यते लोभ एव निन्दावहः । इत्थमेव यदि स पिशुनः वर्तते तर्हि स महापापी अस्ति, सत्यवक्ता अस्ति चेत् तर्हि महातपस्वी, शुद्धमनाः अस्ति चेत्तर्हि महातीर्थसेवी, सुजनः अस्ति चेत्तर्हि महाबलशाली, महिमान्वितश्चेत्तर्हि भूषणालङ्कृतः, सद्विद्यान्वितश्चेत्तर्हि धनशाली तथा अपयशोभाक् चेत्तर्हि मृतप्राय एव ।

टिप्पणी—(१) लोभः—लालच । √लुभ्+घञ् । 'लोभः पापस्य कारणम्' (हितोपदेश १, २७) । लोभ सकल गुणों को उसी तरह नष्ट कर देता है जैसे श्वित्र सौन्दर्य को—'यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः । लोभः स्वल्पोऽपि तान्हन्ति श्वित्रं रूपमिवेप्सितम् ॥' (भागवतपुराण) । (२) अगुणेन—न गुणः अगुणः (न० त०) । यहाँ नञ् का अर्थ है विरोध । गुण का विरोधी

अर्थात् दुर्गुण । अत्र करणे तृतीया 'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' इति नियमेन । अगुणेन किं साध्यम् अस्ति साधनक्रियां प्रति अगुणशब्दः करणम् । (३) पातकैः—पापों से । पातयति नरके इति पातकम् √पत्+णिच्+ण्वुल्—अक । (४) सौजन्यम्—सुजनता । सुजनस्य भावः सुजन+ष्यञ् । यदि किसी मनुष्य में सुजनता है तो वह उसी के प्रभाव से लोगों को वशीभूत कर लेगा । उसे बल-प्रयोग की क्या आवश्यकता ? (५) महिना—माहात्म्य या बड़प्पन । महत्+इमनिच् । (६) अपयशः—अपकीर्ति । अपयश मृत्यु से भी बढ़कर है । 'संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' (गीता २, ३४)। मृच्छकटिक में भी कहा है—'न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः' । ऐसा विचार कर मनुष्य सद्गुणों का अर्जन करे ।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

सात वस्तुएँ खटकने वाली हैं—

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतिः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥४६॥

अन्वयः—दिवसधूसरः शशी, गलितयौवना कामिनी, विगतवारिजं सरः, स्वाकृतेः अनक्षरं मुखम्, धनपरायणः प्रभुः, सततदुर्गतिः सज्जनः, नृपाङ्गणगतः खलः इति सप्त मे मनसि शल्यानि (सन्ति) ।

संस्कृत-व्याख्या—दिवसधूसरः—दिवसे दिने धूसरः निस्तेजस्कः, शशी—चन्द्रः, गलितयौवना—गलितं नष्टं यौवनं तारुण्यं यस्याः तादृशी, कामिनी—रमणी, विगतवारिजं—नष्टकमलं, सरः—कासारः, स्वाकृतेः—सुन्दरपुरुषस्य, अनक्षरं—विद्याविहीनं, मुखम्—आननम् धनपरायणः—सम्पत्तिलोलुपः, प्रभुः—राजा, सततदुर्गतिः—निरन्तरदारिद्र्योपहतः, सज्जनः—सुजनः, नृपाङ्गणगतः—राजगृहान्तर्वर्ती, खलः—दुष्टः, इति—एतानि, सप्त—सप्तसंख्यकवस्तूनि, मे—मम, मनसि—चित्ते, शल्यानि—शल्यवत् दुःसहदुःखकारीणि (सन्ति) ।

अनुवाद—दिन में मलिन चन्द्रमा, वह सुन्दरी जिसकी तरुणाई बीत चुकी हो, कमलविहीन सरोवर, सुन्दर आकृतिवाला निरक्षर भट्टाचार्य पुरुष धनलोलुप राजा, दुर्दशा-ग्रस्त सज्जन, राज-दरबार में पहुँचवाला दुष्ट—ये सातों मेरे हृदय में चुभे हुए बाण हैं अर्थात् ये सातों मेरे मन में बहुत खटकते हैं।

The moon, lustreless in day; a woman of past youth; a lotusless pond; a lovely fair but unletterd face; a master (king) given to wealth-hoarding; a good man ever in sad plight; a rogue having access to a king's court—these are the seven shaft (sunk deep) into heart.

संस्कृत-भावार्थ—दिने निस्तेजस्कश्चन्द्रः गलितयौवना कामिनी कमलरहितं सरः सुन्दरपुरुषस्य विद्यारहितं मुखं धनलोलुपो राजा दारिद्र्योपहतः सज्जनः राजानुग्रहभाक् खलः—एतानि सप्त वस्तूनि सहृदयानां मनः क्षोभकराणि भवन्ति।

टिप्पणी—(१) दिवसधूसरः—दिन में मलिन कान्ति वाला। दिवसे धूसरः (स० त०)। (२) शशी—चन्द्रमा। शशः अस्ति अस्य इति शशी शश+इनि। चन्द्रमा के अंक में मृग का अस्तित्व माना जाता है। अतएव उसका नाम 'मृगलाञ्छन' पड़ा है। चन्द्रकलंक को ही शश कहते हैं। (३) गलितयौवना—जिसकी जवानी ढल चुकी हो। √गल्+क्त कर्तरि=गलितम्। यूनो भावः यौवनम् युवन्+अण् 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' इत्यनेन। गलितं यौवनं यस्याः सा (ब० स०)। (४) कामिनी—रमणी। काम+इनि+ङीप्। (५) विगतवारिजम्—कमलों से रहित। वारिणि जायन्ते इति वारिजानि वारि√जन्+ड 'सप्तम्यां जनेर्डः' इत्यनेन। विगतानि वारिजानि यस्य तत् विगतवारिजम् (ब० स०)। (६) स्वाकृतेः—सुन्दर आकृति वाले। सु शोभना आकृतिः यस्य स स्वाकृतिः (ब० स०), तस्य। सम्बन्धे षष्ठी। (७) अनक्षरम्—अक्षर-ज्ञान या शिक्षा से रहित। अविद्यमानम् अक्षरं यत्र तत् (न० ब० स०)। (८) धनपरायणः—धन का लोभी। परम् अयनम् परायणम् (कर्म० स०), धनमेव परायणं यस्य स धनपरायणः (ब० स०)। (९) सततदुर्गतिः—सदा विपत्ति में पड़ा हुआ। दुष्टा गतिः दुर्गतिः (कर्म० स०), सतता सततं वा दुर्गतिः यस्य सः (ब० स०)। 'सततदुर्गतः' पाठ रखने पर सततं दुर्गतः (सुप्सुपा स०) (१०) नृपाङ्गणगतः—राजा का बड़ा दरबारी या मुँहलगुआ। नृपस्य अङ्गनम्

(ष० त०), तद् गतः (द्वि० त०), 'कुमति च' इति सूत्रेण नस्य णः। आंगन के लिए 'अङ्गन' और 'अङ्गण' दोनों शब्दों का व्यवहार होता है, किन्तु बहुत प्रसिद्ध 'अङ्गन' ही है। 'अङ्गण' में पृषोदरादित्वात् णत्व होता है। (११) शल्यानि—काँटे की भाँति चुभने वाले, कष्टकारक।

इस श्लोक में चन्द्रमा अकेला ही शल्य बनने के लिए पर्याप्त है फिर भी दूसरे शल्यों का नामोल्लेख हुआ है, अतः समुच्चय अलंकार है और यहाँ प्रकृत—खल तथा अप्रकृत—अन्य वस्तुओं की समता दिखाई गई है, अतः दीपक अलंकार है। इन दोनों अलंकारों में अंगांगिभाव से संकर है। इसमें पृथ्वी छन्द है। पृथ्वी का लक्षण—'जसौ जसयलावसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः'।

क्रोध से हानि—

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम्।
होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टः दहति पावकः॥४७॥

अन्वयः—चण्डकोपानाम् भूभुजाम् कश्चित् अपि न आत्मीयः नाम। जुह्वानम् होतारम् अपि पावकः स्पृष्टः सन् दहति।

संस्कृत-व्याख्या—चण्डकोपानाम्—भयङ्करकोपानां, भूभुजां—राज्ञां, कश्चित् अपि—कोऽपि, न—नहि, आत्मीयः नाम—स्वकीयःजनः विश्वासपात्रं वा (भवति)। जुह्वानं—हवनं कुर्वाणं, होतारमपि—यजमानमपि, पावकः—अग्निः, स्पृष्टः (सन्), दहति—सन्तापयति।

अनुवाद—जिनका कोप बड़ा प्रचण्ड है उन राजाओं का कोई भी अपना नहीं। छू जाने पर अग्नि हवनकर्ता को जलाता ही है।

None is, indeed, the pet of the king whose anger is furious. The fire, when touched, burns even the sacrificer, offering oblations.

संस्कृत-भावार्थ—अत्यन्तकोपिनां राज्ञां कोऽपि जनः विश्वासपात्रं न भवति। यतो हि स समये स्वाश्रयिणमपि तथैव सन्तापयति यथा स्पृष्टः अग्निः हवनं कुर्वाणं यजमानमपि दहति।

टिप्पणी—(१) चण्डकोपानाम्—अत्यन्त क्रोधी। चण्डः कोपः येषां ते चण्डकोपाः (ब० स०), तेषाम्। 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः। कोप के

प्रमाण से 'चण्ड' का ही अर्थ 'अत्यन्त क्रोधी' है। फिर 'चण्डकोपानाम्' में कोप शब्द का उपादान व्यर्थ मालूम होता है। अतएव यहाँ 'चण्ड' का अर्थ 'भयंकर' करना उचित है। (२) भूभुजाम्—राजाओं का। भुवम् भुनक्ति पालयति इति भूभुज् भू√भुज्+क्विप्, तेषाम्। सम्बन्धे षष्ठी। (३) आत्मीयः—अपना व्यक्ति, विश्वासपात्र। आत्मनः अयम् इति आत्मन्+छ—ईय। (४) जुह्वानम्—आहुति डालते हुए। √हु+शानच्। यहाँ कठिनाई है कि शानच् प्रत्यय आत्मनेपदी धातु से होता है और हु धातु परस्मैपदी है। इसलिए शानच् नहीं होगा, किन्तु अर्थ यहाँ शानच्प्रत्ययान्त शब्द का ही घट रहा है। अतएव इसे शिष्टप्रयोग मान लिया जाय अथवा 'होतुं शीलं यस्य इति√हु+चानश् 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' इत्यनेन=जुह्वानः, तम्' इस प्रकार काम चला सकते हैं। किन्तु तब इसका अर्थ होगा—'हवनशील'। (५) होतारम्—हवन करने वाले को। √हु+तृच् कर्तरि=होता, तम्। (६) पावकः—अग्नि। पुनाति इति पावकः√पू+ण्वुल्—अक। (७) दहति—जलाता है। दह् धातु भ्वादिगणीय परस्मैपदी है। इसके रूप—दहति, ददाह—देहतुः, अधाक्षीत् अदाग्धाम्, धक्ष्यति।

इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार है और अनुष्टुप् छन्द है।

सेवक की कठिनाई—

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वाचको जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे भवति च वसन्दूरतोऽप्यप्रगल्भः।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥४८॥

अन्वयः—मौनात् मूकः, प्रवचनपटुः वाचकः जल्पकः वा, पार्श्वे च वसन् धृष्टः भवति, दूरतः अपि (वसन्) अप्रगल्भः (भवति), क्षान्त्या भीरुः, यदि न सहते, प्रायशः अभिजातः न (भवति); सेवाधर्मः परमगहनः, योगिनाम् अपि अगम्यः अस्ति।

संस्कृत-व्याख्या—मौनात्—तूष्णीम्भावात्, मूकः—वाचा रहितः (भवति), प्रवचनपटुः—प्रवचने समधिकभाषणे पटुः निपुणः, वाचकः—बहुभाषी, जल्पकः

—असम्बद्धप्रलापी, वा (भवति), पार्श्वे—समीपे, च, वसन्—अवतिष्ठमानः, धृष्टः—अविनीतः (भवति), दूरतः अपि—विप्रकृष्टे देशे च (वसन्), अप्रगल्भः—अप्रौढः (भवति), क्षान्त्या—सहनशीलतया, भीरुः—कातरः (भवति), यदि—चेत्, न सहते—न क्षमते, (तर्हि) प्रायशः—बहुधा, अभिजातः—सत्कुलीनः, न (भवति); सेवाधर्मः—परिचर्याकर्म, परमगहनः—अत्यन्तकठिनः, योगिनामपि—यतीनामपि, अगम्यः—अज्ञेयः, अस्ति—विद्यते ।

अनुवाद—सेवा धर्म बड़ा ही विकट है, योगियों को भी अगम्य है, दुर्बोध है । सेवक यदि चुप रहता है तो गूंगा कहलाता है, हाजिर जवाब हुआ तो बड़बड़िया और भटर-भटर करने वाला, यदि समीप में खड़ा रहे तो ढीठ, दूर में रहे तो लजीला कहलाता है, सहनशीलता के कारण कायर और यदि बात न सहे तो नीच-कमीना कहलाता है ।

The duty of service is very difficult (to understand). It is incomprehensible even to the ascetics, A servant is called dumb and mute if he keeps silence if sharp in reply, he is called talkative or garrulous; if he stands near, he is called impudent; if he stays afar, he is called shy; on account of his power of endurance, he is called a coward; if he does not brook (an insult) he is generally regarded as base-born or unmannerly.

संस्कृत-भावार्थ—परिचर्याकर्म अतीवकठिनं विद्यते । यदि सेवकः मौनमाचरति तर्हि स मूकः उच्यते, भाषणे चेत् स पटुः बहुभाषी कथ्यते, समीपे वसन् धृष्टो भवति, दूरतो वसन् अप्रौढो भवति, सहनशीलश्चेत् भीरुः भवति, यदि न सहते तर्हि अकुलीनः कथ्यते । इत्थम् अतिगूढं सेवाधर्मं योगिनोऽपि न जानन्ति किमुतान्ये ।

टिप्पणी (१) मौनात्—चुप रहने से । मुनेः भावः कर्म वा मौनम् मुनि+अण्, तस्मात् । हेतौ पञ्चमी । (२) प्रवचनपटुः—बोलने या उत्तर देने में कुशल । प्रवचने पटुः (स० त०) । (३) वाचकः—बहुत बोलने वाला, बकवादी । √वच्+ण्वुल् । (४) जल्पकः—बड़बड़िया । √जल्प्+ण्वुल् । अथवा जल्पति इति जल्पः √जल्प्+अच् (पचादित्वात्) । कुत्सितः जल्पः इति जल्पकः अथवा जल्पः एव जल्पकः जल्प+कन् स्वार्थे । (५) क्षान्त्या—क्षमा

या सहनशीलता के कारण । √क्षम्+क्तिन्=क्षान्तिः, तया । (६) भीरुः—डरपोक । √भी+क्रुक् 'भियः क्रुक्लुकनौ' इत्यनेन । (७) अभिजातः—कुलीन । अभि√जन्+क्त । (८) सेवाधर्मः—सेवा रूपी धर्म । √सेव्+अ 'गुरोश्च हलः' इत्यनेन, टाप्=सेवा । ध्रियते अनेन समाजः संसारो वा इति धर्मः √धृ+मन् । सेवारूपः धर्मः (मध्य० स०) । (९) योगिनाम् अपि अगम्यः—योगियों के लिए कठिन अर्थात् योगी भी सेवाधर्म का निर्वाह नहीं कर सकते, साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या है ।

इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलंकार है और मन्दाक्रान्ता छन्द है । छन्द का लक्षण—'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' ।

नीच की दृष्टि पड़ने पर कैसे सुख मिले—

उद्भासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य
प्रोद्गाढविस्मृतनिजाधमकर्मवृत्तेः ।
दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य
नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः ॥४९॥

अन्वयः—उद्भासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य प्रोद्गाढविस्मृतनिजाधमकर्मवृत्तेः दैवात् अवाप्तविभवस्य गुणद्विषः अस्य नीचस्य (जनस्य) गोचरगतैः कैः सुखम् आस्यते ।

संस्कृत-व्याख्या—उद्भासिताखिलखलस्य—उद्भासिताः प्रकाशिताः अखिलाः सकलाः खलाः दुष्टाः येन तादृशस्य, विशृङ्खलस्य—उच्छृङ्खलस्य, प्रोद्गाढविस्मृतनिजाधमकर्मवृत्तेः—प्रोद्गाढम् अतितराम् यथा तथा विस्मृता विस्मरणं नीता निजा स्वकीया अधमकर्मवृत्तिः नीचकर्मव्यापारः येन तस्य, दैवात्—संयोगात्, अवाप्तविभवस्य—प्राप्तलक्ष्मीकस्य, गुणद्विषः—गुणद्रोहिणः, अस्य—पूर्वोक्तस्य, नीचस्य—अधमपुरुषस्य, गोचरगतैः—विषयवासिभिः, कैः—जनैः, सुखं—सुखपूर्वकम्, आस्यते—स्थीयते ? कैरपि नेत्यर्थः ।

अनुवाद—जो नीच सर्व-गुण-द्वेषी है और जो संयोगवश विभव पाये हुए है, जो अपनी पहले की अधम कर्मवृत्ति को एकदम भूल बैठा है, जो उच्छृङ्खल है और जिसने खल-मण्डली का गौरव बढ़ा दिया है (प्रोत्साहन द्वारा अथवा

अपनी उन्नति द्वारा) उस नीच की पहुँच के भीतर—उसके वश में रह कर—कौन सुख से रह सकता है।

Who can live happily, when fallen within the range of a meanminded, villain; who hates all merits, who has obtained affluence by chance, who has quite totally forgotten his own former mode of living by nefarious deeds, who is all unbridled and who has aggrandised the entire class of knaves.

संस्कृत-भावार्थ—अदृष्टवशात् प्राप्तलक्ष्मीकः विस्मृतस्वप्राक्तननीचकर्मजीविकानिर्वाहः गुणद्रोही दुर्जनशिरोमणिः नीचपुरुषः सर्वेषां क्लेशकरो भवति। अतः तस्य दूरे एव स्थातव्यं सर्वैः।

टिप्पणी—(१) उद्भासिताखिलखलस्य—समस्त दुष्टों को प्रकाशित करने वाले अर्थात् अधिकार देकर सारे दुष्टों को पुरस्कृत करने वाले। अखिलाः खलाः (कर्म० स०), उद्भासिताः अखिलखलाः येन सः (ब० स०), तस्य। (२) विशृङ्खलस्य—शृंखला-रहित अर्थात् मनमाना काम करने वाले, स्वेच्छाचारी का। विगता शृङ्खला विधिनिषेधरूपा यस्य सः (ब० स०), तस्य। (३) प्रोद्गाढविस्मृतनिजाधमकर्मवृत्तेः—अपनी (पहले की) अधम कर्मवृत्ति को एकदम भूल जाने वाले। प्र—उद्√गाह्+क्त=प्रोद्गाढ। √वृत्+क्तिन्=वृत्तिः। प्रोद्गाढं यथा तथा विस्मृता प्रोद्गाढविस्मृता (सुप्सुपा स०)। अधमानि कर्माणि अधमकर्माणि (कर्म० स०), अधमकर्मभिः वृत्तिः इति अधमकर्मवृत्तिः (तृ० त०), निजा अधमकर्मवृत्तिः (कर्म० स०), प्रोद्गाढविस्मृता निजाधमकर्मवृत्तिः यस्य सः (ब० स०), तस्य। (४) अवाप्तविभवस्य—धन प्राप्त किये हुए। अवाप्तः विभवः येन सः (ब० स०) तस्य। यहाँ 'अवाप्त' का सम्बन्ध 'दैवात्' से है। अतः सामर्थ्याभावात् समास नहीं होना चाहिए। किन्तु 'सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः' इस नियम से यहाँ समास हो गया। (५) गुणद्विषः—सद्गुणों से द्वेष करने वाले। गुणान् द्वेष्टि इति गुणद्विट् गुण√द्विष्+क्विप्, तस्य। (६) गोचरगतैः—(उसकी) पहुँच के भीतर अर्थात् वश में रहने वाले। गो√चर्+घ=गोचरः। गोचरं गतः (द्वि० त०), तैः। यह 'कैः=पुरुषैः' का विशेषण है। (७) सुखम्—अत्र क्रियाविशेषणे द्वितीया।

इस श्लोक में 'कोई सुख से नहीं रह सकता है,' इसका कारण पहले बता दिया गया है, इसलिए काव्यलिंग अलंकार है और वसन्ततिलका छन्द है।

खलों एवं सज्जनों की मैत्री में अन्तर—

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण
लघ्वी पुरा वृद्धिमुपैति पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥५०॥

अन्वयः—आरम्भगुर्वी क्रमेण क्षयिणी; पुरा लघ्वी, पश्चात् वृद्धिम् उपैति। दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छाया इव खलसज्जनानाम् मैत्री।

संस्कृत-व्याख्या—आरम्भगुर्वी—आरम्भे आदौ गुर्वी बृहती, क्रमेण—कालक्रमेण, क्षयिणी—क्षयशीला, पुरा—प्रारम्भे, लघ्वी—सूक्ष्मा, पश्चात्—अनन्तरं, वृद्धिम् उपैति—वर्धते, दिनस्य—दिवसस्य, पूर्वार्धपरार्धभिन्ना—पूर्वार्धपरार्धाभ्यां पूर्वाह्णापराह्णाभ्यां भिन्ना पृथग्विधा, छाया इव—अनातप इव, खलसज्जनानां—दुर्जनसज्जनानां, मैत्री—मित्रता (भवति)।

अनुवाद—आरम्भ में बड़ी फिर धीरे-धीरे छोटी होने वाली, पहले छोटी पर पीछे धीरे-धीरे बढ़ने वाली—पूर्वाह्न और अपराह्न काल की छाया की जैसी—खल और सज्जनों की मित्रता होती है।

The friendship of the wicked and the good people differs like the shadow in the first and the second half of the day (respectively) (wickedman's friendship). is great in the beginning but gradually it wanes (goodman's friendship) is at first small, but it increases afterwards.

संस्कृत-भावार्थ—यथा दिनस्य पूर्वार्धे छाया बृहती अस्ति, अनन्तरं क्रमेण क्षयिणी भवति तथैव दुर्जनस्य मैत्री आरम्भे महती स्यात् पश्चात् च क्रमेण स्वल्पात् स्वल्पतरा भवति। किन्तु सज्जनमैत्री एतद्विपरीता। यथा अपराह्णकाले छाया प्राक् लघ्वी सती क्रमेण वर्धते तथैव सज्जनानां मैत्री आरम्भे लघ्वी भवति परन्तु कालक्रमेण अनुदिनं वर्धते।

टिप्पणी—(१) आरम्भगुर्वी—आरम्भ में बड़ी। गुरु+ङीप् 'वोतो गुणवचनात्' इत्यनेन=गुर्वी अथवा गुरुः। आरम्भे गुर्वी (स० त०)। (२) क्षयिणी—क्षीण होने वाली। क्षेतुं शीलं यस्याः सा क्षयिणी√क्षि+णिनि+

ङीप्। (३) पूर्वार्धपरार्धभिन्ना—(दिन के) पहले और पिछले भाग में भिन्न-भिन्न रूप से रहने वाली। पूर्वः अर्धः पूर्वार्धः, परः अर्धः परार्धः (कर्म० स०)। 'अर्धं नपुंसकम्'—सूत्र का अर्थ है—समांशवाची अर्ध शब्द अर्थात् ठीक-ठीक आधा अर्थ जहाँ विवक्षित हो वहाँ अर्ध शब्द नित्य नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होता है तथा वह षष्ठ्यन्त अवयवी के साथ समस्त होता है। यथा—'अर्धं गृहस्य इति अर्धगृहम्।' यहाँ अर्ध शब्द समांशवाची नहीं है अर्थात् पूर्वार्ध और परार्ध का अर्थ ठीक प्रथम आधा तथा ठीक दूसरा आधा नहीं है। इसलिए 'अर्धं नपुंसकम्' से समास नहीं हुआ। पूर्वार्धश्च परार्धश्च इति पूर्वार्धपरार्धौ (द्व० स०), ताभ्यां भिन्ना इति (तृ० त०)। (४) खलसज्जनानाम्—दुर्जनों और सज्जनों की मित्रता। खलाश्च सज्जनाश्च इति खलसज्जनाः (द्व० स०), तेषाम्। स्पष्टार्थ यह है कि पूर्वाह्न में किसी वस्तु की छाया पहले बड़ी होती है, किन्तु वह क्रमशः क्षीण होती जाती है। इसी तरह दुष्ट पुरुष की मित्रता पहले बड़ी होती है, किन्तु वह क्रमशः घटती है। इसके विपरीत अपराह्न में किसी वस्तु की छाया पहले छोटी होती है, किन्तु वह क्रमशः बड़ी होती जाती है। इसी तरह सत्पुरुष की मित्रता पहले तो छोटी होती है, पर क्रमशः वह बढ़ती ही जाती है।

इस श्लोक में यथासंख्य तथा उपमा अलंकार हैं और उपजाति छन्द है।

अकारण वैरी—

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम्।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणमेव वैरिणो जगति ॥५१॥

अन्वयः—तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम् मृगमीनसज्जनानाम् लुब्धकधीवर-पिशुनाः जगति निष्कारणम् एव वैरिणः।

संस्कृत-व्याख्या—तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनां—तृणं घासः जलं पानीयं सन्तोषः मनस्तुष्टिः तैः विहिता कल्पिता वृत्तिः येषां तेषाम्, मृगमीनसज्जनानां—हरिणमत्स्यसाधूनां, लुब्धकधीवरपिशुनाः—लुब्धकः व्याधः धीवरः जालिकः पिशुनः सूचकः, जगति—संसारे, निष्कारणं—विना कारणम्, एव, वैरिणः—शत्रवः (सन्ति)।

अनुवाद—मृग, मीन और सज्जन, घास, जल और सन्तोष से अपनी जीविका प्राप्त करते हैं; पर व्याध, मछुआ और चुगलखोर बिना कारण ही उनसे, क्रमशः, वैर करते हैं।

The hunter, the fisherman and the back-biter, are in this world the enemies without any cause of the deer, the fish and the good people living on grass, water and contentment respectively.

संस्कृत-भावार्थ—संसारे तृणेन जलेन सन्तोषेण क्रमशो वृत्तिम् उपकल्पयतो मृगान् मीनान् सज्जनान् क्रमेण व्याधाः धीवराः पिशुनाः द्विषन्ति।

टिप्पणी—(१) **तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम्**—घास, पानी तथा सन्तोष से जीविकोपार्जन करने वाले। सम्√तुष्+घञ् भावे=सन्तोषः। वि√धा+क्त कर्मणि=विहित। √वृत्+क्तिन् भावे=वृत्तिः। तृणं च जलं च सन्तोषश्च इति तृणजलसन्तोषाः (द्व० स०), तैः विहिता (तृ० त०), तादृशी वृत्तिः येषां ते तृणजलसन्तोषवृत्तयः (ब० स०), तेषाम् सम्बन्धे षष्ठी। (२) **मृगमीनसज्जनानाम्**—हरिण, मछली तथा सज्जन के। मृगाश्च मीनाश्च सज्जनाश्च इति मृगमीनसज्जनाः (द्व० स०), तेषाम्। (३) **लुब्धकधीवरपिशुनाः**—बहेलिया, मछुआ तथा दुर्जन। लुब्धकश्च धीवरश्च पिशुनश्च इति लुब्धकधीवरपिशुनाः (द्व० स०)। (४) **निष्कारणम्**—अकारण। निः नास्ति कारणं यस्य तत् यथा स्यात् तथा। क्रियाविशेषणे द्वितीया। (५) **वैरिणः**—शत्रु। वैरम् अस्ति एषाम् इति वैर+इनि।

इस श्लोक में यथासंख्य अलंकार है, क्योंकि 'लुब्धकधीवरपिशुनाः' क्रमशः 'मृगमीनसज्जनानाम्' के शत्रु हैं। इसमें आर्या छन्द है।

अथ सुजनपद्धतिः

वाञ्छा सज्जनसंगतौ परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम्।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खलै-
रेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो महद्भ्यो नमः ॥५२॥

अन्वयः—सज्जनसंगतौ वाञ्छा, परगुणे प्रीतिः, गुरौ नम्रता, विद्यायां व्यसनम्; स्वयोषिति रतिः, लोकापवादात् भयम्, शूलिनि भक्तिः, आत्मदमने शक्तिः, खलैः (सह) संसर्गमुक्तिः, एते निर्मलगुणाः येषु वसन्ति तेभ्यः महद्भ्यः नमः।

संस्कृत-व्याख्या—सज्जनसंगतौ—साधुसमागमे, वाञ्छा—अभिलाषः, परगुणे—परेषाम् अन्येषां गुणे दयादाक्षिण्यादौ, प्रीतिः—सन्तोषः, गुरौ—गुरुजने, नम्रता—विनयशीलता, विद्यायां—वेदान्तादिशास्त्रज्ञाने, व्यसनम्—आसक्तिः, स्वयोषिति—स्वपत्न्यां, रतिः—प्रेम, लोकापवादात्—लोकनिन्दायाः, भयं—भीतिः, शूलिनि—शङ्करे, भक्तिः—श्रद्धानुरागः, आत्मदमने—आत्मसंयमे, शक्तिः—सामर्थ्यम्, खलैः—दुष्टैः (सह), संसर्गमुक्तिः—सङ्गत्यागः, एते—इमे, निर्मलगुणाः—निष्कलङ्काः गुणाः, येषु—महापुरुषेषु, वसन्ति—विद्यन्ते, तेभ्यः, महद्भ्यः—महात्मभ्यः, नमः—प्रणामाः सन्तु।

अनुवाद—जिनको सज्जनों की संगति की चाह है, और जो दूसरों के गुण से प्रेम रखते हैं, बड़े-बूढ़ों के प्रति जो नम्र बने रहते हैं, जिन्हें विद्या में व्यसन है—विद्योपार्जन में जो लगे रहते हैं, अपनी स्त्री से जिन्हें प्रेम रहता है, लोक-निन्दा से जो डरते हैं, शिव में जिनकी भक्ति रहती है और जो आत्म-दमन करते हैं, अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हैं; जो खलों की संगति से दूर भागते हैं; ये निर्मल गुण जिन महापुरुषों में विद्यमान हैं उन महात्माओं को हम प्रणाम करते हैं।

Salutation to the great, soule, in whom dwell the following sterling virtues :—desire for the company of the good, gratification at the quality of others, humility towards superiors, love of learning or close application to learning, attachment to one's own wife, fear from public scandal, devotion to Lord Siva, power in self-control, and avoidance of the contact with wicked men.

संस्कृत-भावार्थ—ये महानुभावाः साधुसमागमं वाञ्छन्ति परगुणेषु प्रीतिं कुर्वन्ति पूज्यान् पित्रादीन् प्रति सविनयास्तिष्ठन्ति वेदान्तादिशास्त्राभ्यासे आसज्जन्ते स्वपत्न्याम् अनुरज्यन्ति लोकापवादाद् बिभ्यति शिवे भक्तिं कुर्वन्ति इन्द्रियाणि दमयन्ति खलसंसर्गाद् दूरे तिष्ठन्ति ते वन्दनीयाः। सर्वथा च तेषां चरितमनुकरणीयं सर्वैः।

टिप्पणी—(१) सज्जनसंगतौ—सज्जनों की संगति में। सत्+जन=सज्जन। सज्जनानां संगतिः (ष० त०), तस्याम्। विषयाधिकरणे सप्तमी। यहां सभी

सप्तम्यन्त पद में विषयाधिकरणे सप्तमी है । (२) व्यसनम्—आसक्ति । वि√ अस्+ल्युट् । (३) स्वयोषिति—अपनी स्त्री में । स्वस्य योषित् (ष० त०), तस्याम् । 'स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः । (४) लोकापवादात्—लोक-निन्दा से । लोकानाम् अपवादः (ष० त०), तस्मात् 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति सूत्रेण पञ्चमी । (५) खलैः—दुष्टों के साथ । अत्र 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इत्यनेन तृतीया । खलैः सह इत्यर्थः । 'विनापि सहार्थ-शब्दयोगे तृतीया', यथा—वृद्धो यूना आगच्छति । (६) संसर्गमुक्तिः—संगति से छुटकारा । सम्√सृज्+घञ् भावे=संसर्गः । √मुच्+क्तिन् भावे=मुक्तिः । संसर्गस्य मुक्तिः (ष० त०) । कहा भी है—'दुर्जनं दूरतस्त्यजेत्' । 'दुर्जनः परिहर्तव्यः' । (७) निर्मलगुणाः—निर्दोष या उत्तम गुण । निः नास्ति मलं येषु ते निर्मलाः (प्रा० ब० स०) । निर्मलाः गुणाः (कर्म० स०) । (८) महद्भ्यः—महापुरुषों को । अत्र 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च' इति सूत्रेण चतुर्थी । तुलना कीजिए—'चिन्ता यशसि न वपुषि व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे । भक्तिर्भवे न विभवे प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥'

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

महापुरुषों का लक्षण—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥५३॥

अन्वयः—विपदि धैर्यम्, अथ अभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता, युधि विक्रमः, यशसि अभिरुचिः, श्रुतौ व्यसनं च, इदं हि महात्मनाम् प्रकृतिसिद्धम् ।

संस्कृत-भावार्थ—विपदि—विपत्तौ, धैर्य—स्थिरचित्तता, अथ—अनन्तरम्, अभ्युदये—सम्पदि, क्षमा—सहिष्णुता, सदसि—सभायां, वाक्पटुता—वाक्चातुर्यं, युधि—युद्धे, विक्रमः—पराक्रमः, यशसि—कीर्तौ, अभिरतिः—संग्रहाभिलाषः, च—तथा, श्रुतौ—वेदादिशास्त्राभ्यासे, व्यसनम्—आसक्तिः, इदं—सर्वं, हि, महात्मनाम्—महानुभावानां, प्रकृतिसिद्धं—स्वभावसिद्धम् ।

अनुवाद—विपत्ति में धैर्य रखना, उन्नति में लोगों पर क्षमा दर्शाना, सभा में चतुराई से बोलना, लड़ाई में पराक्रम दिखाना, यश में रुचि रखना—यश पाने की चाह रखना, वेदशास्त्र में तल्लीन रहना—ये सब गुण महात्माओं में स्वभाव ही से सिद्ध होते हैं अर्थात् अपने आप आ जाते हैं।

Fortitude in adversity, forgiveness during prosperity, eloquence in an assembly, valour in battle, great liking for fame, devoted application to Vedic study, all these are natural with the high-souled people.

संस्कृत-व्याख्या—विपदि धैर्यम् उन्नतौ क्षमा सभायां वाक्पटुता युद्धे शौर्यं यशसि अभिरुचिः तथा शास्त्रे व्यसनम्—एते गुणाः महापुरुषेषु स्वभावतस्तिष्ठन्ति।

टिप्पणी—(१) विपदि, अभ्युदये, सदसि, युधि, यशसि, श्रुतौ—इन सभी शब्दों में अधिकरणे सप्तमी है। अभि उद्√इ + अच्=अभ्युदयः, तस्मिन्। (२) क्षमा—√क्षम् अङ्+टाप्। (३) इदम्—यह सर्वनाम अपने से पूर्व आये हुए सभी प्रथमान्त शब्दों के लिए आया है। एकशेष समास में 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्' सूत्र से एकवचन हो जाने के कारण ऐसा हुआ है। (४) महात्मनाम्—बड़े लोगों में। महान् आत्मा येषां ते महात्मानः (ब० स०), तेषाम्। (५) प्रकृतिसिद्धम्—स्वभाव से ही विद्यमान। प्रकृत्या सिद्धम् इति (तृ० त०)।

इस श्लोक में द्रुतविलम्बित छन्द है। छन्द का लक्षण—द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।

महापुरुषों के स्वाभाविक अलंकरण—

> करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता
> मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम्।
> हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतमधिगतं च श्रवणयो-
> र्विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥५४॥

अन्वयः—करे श्लाघ्यः त्यागः, शिरसि गुरुपादप्रणयिता, मुखे सत्या वाणी, भुजयोः विजयि अतुलं वीर्यं, हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रवणयोः च अधिगतं श्रुतम्, इदम् ऐश्वर्येण विना अपि प्रकृतिमहताम् मण्डनम् अस्ति।

संस्कृत-व्याख्या—करे—हस्ते, त्यागः—दानम्, शिरसि—मस्तके, गुरुपादप्रणयिता—गुरूणां पूज्यानां मातापित्रादीनां—पादयोः चरणयोः प्रणयिता नम्रता, मुखे—आनने, सत्या—यथार्था, वाणी—वाक्, भुजयोः—बाह्वोः, विजयि—विजयशीलम्, अतुलम्—अनुपमं, वीर्यं—बलम्, हृदि—हृदये, स्वच्छा—निर्मला, वृत्तिः—व्यापारः, श्रवणयोः—कर्णयोः, अधिगतं—प्राप्तम् अधीतमिति यावत्, श्रुतं—शास्त्रम्, इदं—पूर्वोक्तं सर्वम्, ऐश्वर्येण—धनरत्न-सम्पत्त्या, विनापि—ऋतेऽपि, प्रकृतिमहताम्—प्रकृत्या स्वभावेन महताम् महात्मनाम्, मण्डनम्—भूषणम् (अस्ति)।

अनुवाद—शुभ दान हाथ का भूषण है, गुरुजनों के चरणों में प्रणाम करना शिर का भूषण है, सत्य वचन मुख का, अतुल वीरता भुजाओं का, निर्मल वृत्ति हृदय का और ज्ञान-प्राप्ति कानों का भूषण हैं। बिना ऐश्वर्य के ही ये सब स्वभाव से जो बड़े होते हैं उन महापुरुषों के लिये भूषण हैं।

Praiseworthy charity is the ornament for the hand; obeisance to the feet of elders for the head; truthful speech for the mouth; the peerless victorious prowess for the hands; limpid state or (clear action) for the heart, sacred lore obtained of the ears, all these are the ornaments of persons, great by nature, even though they possess no wealth.

संस्कृत-भावार्थ—महापुरुषाणां प्रकृतिसिद्धानि भूषणानि अन्यान्येव भवन्ति। यथा—तेषां हस्तस्य आभूषणं दानं भवति न तु कङ्कणम् मस्तकस्य आभूषणं गुरुजनचरणयोः नम्रता भवति न तु मणिमाणिक्यकोटीरादि, मुखस्य आभूषणं सत्या वाणी भवति न तु ताम्बूलचर्वणादि. भुजयोः आभूषणं बलम् भवति न तु केयूरादि, हृदयस्य आभूषणं निर्मला वृत्तिः भवति न तु हाररुचकादि, कर्णयोः आभूषणम् अधीतं शास्त्रं भवति न तु कुण्डले।

टिप्पणी—(१) करे—हाथ में। यहाँ सभी सप्तम्यन्त पदों में अधिकरणे सप्तमी है। (२) श्लाघ्यः—प्रशंसनीय। √श्लाघ्+ण्यत् कर्मणि। (३) त्यागः—दान। √त्यज्+घञ्। (४) गुरुपादप्रणयिता—गुरुजनों के चरणों में प्रणामशीलता। प्रणयिता—स्नेह, आदरभाव, आज्ञाकारिता। प्रणयः अस्ति अस्य इति प्रणयी प्रणय+इनि, तस्य भावः प्रणयिता प्रणयिन्+तल्+टाप्। गुरूणां

पादाः (ष० त०), तेषु प्रणयिता (स० त०)। (५) विजयि—विजयशील या विजय प्रदान करने वाला। वि√जि+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये। (६) हृदि स्वच्छा वृत्तिः—निर्मल या निष्कलुष आचरण या व्यवहार हृदय का आभूषण है। (७) श्रुतम्—शास्त्र का ज्ञान। 'श्रुतं शास्त्रावधृतयोः' इति विश्वः। 'श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन'। (८) इदम्—श्लोक संख्या ५३ की टिप्पणी देखिए। (९) ऐश्वर्येण विना—धन-सम्पत्ति के बिना। √ईश्+वरच्=ईश्वरः, ईश्वरस्य कर्म भावो वा ऐश्वर्यम् ईश्वर+ष्यञ्। (१०) प्रकृतिमहताम्—स्वभाव से ही महान् पुरुषों के लिए। प्रकृत्या महान्तः (तृ० त०), तेषाम्।

इस श्लोक में विभावना अलंकार है, क्योंकि ऐश्वर्य के न रहने पर भी भूषण हैं। 'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिः विभावना'। इसमें शिखरिणी छन्द है।

कल्याण का मार्ग—

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्।
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥५५॥

अन्वयः—प्राणाघातात् निवृत्तिः, परधनहरणे संयमः, सत्यवाक्यम्, काले शक्त्या प्रदानम् परेषाम् युवतिजनकथामूकभावः, तृष्णास्रोतोविभङ्गः, गुरुषु विनयः, सर्वभूतानुकम्पा, एषः सर्वशास्त्रेषु सामान्यः अनुपहतविधिः, श्रेयसाम् पन्थाः।

संस्कृत-व्याख्या—प्राणाघातात्—जीवहिंसायाः, निवृत्तिः—निवर्तनम्, परधनहरणे—परवित्तापहरणे, संयमः—मनोरोधः, सत्यवाक्यं—यथार्थभाषणं, काले—समये, शक्त्या—स्वसामर्थ्यानुसारं, प्रदानं—दानम्, परेषाम्—अन्येषाम्, युवतिजनकथामूकभावः—युवतिजनानां तरुणीवृन्दानां कथायां चर्चायां मूकभावः मौनम्, तृष्णास्रोतोविभङ्गः—तृष्णा धनलिप्सा तस्याः स्रोतः प्रवाहः तस्य विभंगः अवरोधनम्, गुरुषु—गुरुजनेषु, विनयः—नम्रता, सर्वभूतानुकम्पा—सर्वेषु सकलेषु भूतेषु प्राणिषु अनुकम्पा दया, एषः—अयं, सर्वशास्त्रेषु—समस्तागमेषु, सामान्यः—साधारणः, अनुपहतविधिः—अलुप्तनियमः, श्रेयसां—कल्याणानाम्, पन्थाः—मार्गः।

अनुवाद—जीव-हिंसा से अलग रहना, पराये की संपत्ति को ले लेने से परहेज करना, सच्ची बात बोलना, समय-समय पर यथाशक्ति दान देना, औरों की स्त्री की चर्चा होते समय चुप रहना, तृष्णास्रोत को रोकना, गुरुजनों के प्रति विनय दिखाना, सब जीवों पर दया करना—यह सब शास्त्रों में अप्रतिषिद्ध विधि वाला (अर्थात् सर्वसम्मत) सकल-जन-साधारण के कल्याण का मार्ग है।

Refraining from killing life, restraint over the stealing of others' wealth, true words, charity at right time according to one's might, maintaining silence during the time of talks of others' wives, check over the current of desire, modesty to elders, kindness to all creatures.—all this is the path to blessings (of all kinds) common to all the scriptures—a path that never fails in its operation (violates no other rules).

संस्कृत-भावार्थ—जीवहिंसानिवृत्तिः, चौर्यराहित्यं, सत्यवादित्वं, दानशीलता, परस्त्रीजनकथायामप्रवृत्तिः, लोभशून्यता, नम्रता, सर्वानुग्रहबुद्धिः—इत्येतानि सर्वाणि पुरुषं कल्याणपथं नयन्ति।

टिप्पणी—(१) प्राणाघातात्—प्राण लेने या जीवहिंसा करने से। प्राणानाम् आघातः (ष० त०), तस्मात्। 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' इति वार्तिकेन पञ्चमी। प्राण शब्द का प्रयोग नित्य पुंलिंग—बहुवचन में होता है। आ√हन्+घञ् भावे=आघातः। कहा भी है—'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'। 'अहिंसा परमो धर्मः, अधर्मः प्राणिनां वधः'। (२) निवृत्तिः—विरत होना। नि√वृत्+क्तिन् भावे। (३) परधनहरणे—दूसरों के धन को हरने में। परेषां धनम् (ष० त०), तस्य हरणम् (ष० त०), तस्मिन्। अधिकरणे सप्तमी। (४) संयमः—अपने को रोकना, परहेज करना। सम्√यम्+अप्। (५) शक्त्या—शक्ति भर। √शक्+क्तिन्=शक्तिः, तया। (६) युवतिजनकथामूकभावः—युवतियों की चर्चा होते समय चुप रहना। 'अनार्यं परदारव्यवहारं श्रोतुम्' (शाकुन्तल ५)। युवतय एव जनाः युवतिजनाः (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपक-रूपन०), तेषां कथाः (ष० त०), तासु मूकभावः (स० तत्पु०)। यहाँ 'युवतिजन' का सम्बन्ध 'परेषाम्' से है, इसलिए सामर्थ्याभावात् समास नहीं होना चाहिए, किन्तु 'सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः' इस नियम से समास हो गया। (७) तृष्णास्रोतोविभङ्गः—धन की सहज इच्छा या लोभ की धारा को रोकना।

तृष्णायाः स्रोतः तस्य विभङ्गः (ष० त०)। (८) गुरुषु—गुरुजनों के प्रति। अत्र विषयाधिकरणे सप्तमी। (९) एषः—यहां 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्' सूत्र के अनुसार 'इदम्' होना चाहिए, किन्तु 'विधेयप्राधान्यात् लिंगता' के अनुसार 'एषः' रखा गया है, क्योंकि इसका विधेय 'पन्थाः' पुंलिंग—एकवचन है। (१०) सामान्यः—सब के लिए समान। समान एव सामान्यः समान+ष्यञ् स्वार्थे। यह 'पन्थाः' का विशेषण है। (११) अनुपहतविधिः—अप्रतिषिद्ध या अलुप्त विधान वाला। न उपहतः अनुपहतः (न० त०), अनुपहतः विधिः यस्य सः (ब० स०)।

इस श्लोक में स्रग्धरा छन्द है। छन्द का लक्षण—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्'।

सज्जनों की विलक्षणता—

संपत्सु महतां चित्तं भवेदुत्पलकोमलम्।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम्॥५६॥

अन्वयः—संपत्सु महताम् चित्तम् उत्पलकोमलम् भवेत्। आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् भवेत्।

संस्कृत-व्याख्या—सम्पत्सु—विभवेषु, महतां—महात्मनां, चित्तं—चेतः, उत्पलकोमलम्—उत्पलं कमलम् इव कोमलं मृदु, भवेत्—जायते। आपत्सु—विपत्सु, च, महाशैलशिलासंघातकर्कशं—महाशैलः महापर्वतः तस्य शिलासंघातः पाषाणकूटः तद्वत् कर्कशं कठोरम् (भवेत्)।

अनुवाद—संपत्ति में बड़ों का चित्त कमल के जैसा कोमल रहता है, पर जब विपत्ति आ धमकती है तब वही (उत्पलकोमल) चित्त महाशैल की चट्टानों के समूह समान कठोर हो जाता है।

During prosperity, the mind of the magnanimous becomes soft like a lotus, while in adversity, it becomes hard like a solid mass of rocks of a great mountain.

संस्कृत-भावार्थ—महापुरुषाणां चित्तं सम्पत्तिकाले कमलपुष्पवत् कोमलं भवति, तदेव विपत्तिकाले प्रस्तर इव कठोरं भवति अर्थात् ते प्रस्तर इव कठिने मनसि धैर्यं वहन्तः सकलमापतितं दुःखं सहन्ते।

टिप्पणी—(१) सम्पत्सु—सम्पत्ति में। सम्√पद्+क्विप् भावे=सम्पदः, तासु। अधिकरणे सप्तमी। (२) उत्पलकोमलम्—कमल के जैसा कोमल। उत्पलम् इव कोमलम् (उपमित स०)। (३) महाशैलशिलासंघातकर्कशम्—महापर्वत की चट्टान के समान कड़ा। शिलानां निचयः इति शैलः शिला+अण्। महान् शैलः (कर्म० स०)। महाशैलस्य शिलासंघातः (प० त०), महाशैलशिलासंघात इव कर्कशम् (उपमित स०)। सम्√हन्+घञ्=संघात। शिलानां संघातः (ष० त०)।

इस श्लोक में उपमा-अलंकार है और अनुष्टुप् छन्द है।

सज्जनता की कठिनता—

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते संभ्रमविधिः,
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः।
अनुत्सेको लक्ष्म्यां निरभिभवसाराः परकथाः,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥५७॥

अन्वयः—प्रच्छन्नम् प्रदानम्, गृहम् उपगते (सति) संभ्रमविधिः, प्रियम् कृत्वा मौनम्, सदसि उपकृतेः अपि कथनम्, लक्ष्म्याम् अनुत्सेकः, निरभिभवसाराः परकथाः (इति) इदम् विषमम् असिधाराव्रतम् सताम् केन उद्दिष्टम्?

संस्कृत-व्याख्या—प्रच्छन्नं—गुप्तं, प्रदानं—दानं, गृहं—गेहम्, उपगते—आगते (सति), संभ्रमविधिः—संभ्रमेण त्वरया विधिः सत्कारः, प्रियम्—अभीष्टं, कृत्वा—सम्पाद्य, मौनं—तूष्णीम्भावः, सदसि—सभायाम्, उपकृतेः—परकृतोपकारस्य, अपि, कथनं—प्रख्यापनं, लक्ष्म्यां—सम्पत्तौ, अनुत्सेकः—गर्वराहित्यम्, निरभिभवसाराः—अनिन्दापराः, परकथाः—अन्यलोकप्रसंगाः, इति, इदम्—एतत्, विषमं—दुष्करम्, असिधाराव्रतं—खड्गधारेव तीक्ष्णतरो नियमः, सतां—सत्पुरुषाणां, केन उद्दिष्टम्—न केनापीत्यर्थः।

अनुवाद—गुप्त दान करना, घर आये जनों का सत्कार करना, लोगों की भलाई करके चुप रहना—किसी से न कहना, किसी के उपकार करने पर सभा-समाज में उसको खूब करना, धन पाकर गर्व नहीं करना, दूसरों के बारे में बोलते समय किसी तरह की अपमान नहीं दिखाना—किसने सज्जनों को ऐसा

विषम् असिधाराव्रत सिखाया ?—किसने सज्जनों को तलवार की धार पर चलने के समान यह कठिन व्रत सिखाया ?

By whom was taught to the good, this course of conduct, difficult like the walking on the sharp edge of a sword. ?—Charity well-concealed, quick reception to one come to their house, silence after doing good, proclaiming publicly in assembly the benefit done (to them by others), non-arrogance in prosperity, conversations about others, free even in essence from any insult.

संस्कृत-भावार्थ—सज्जनाः गुप्तदानं कुर्वन्ति, गृहम् आगते सति अर्थिनि झटिति तं सत्कुर्वन्ति, स्वकृतम् उपकारं न कुत्रापि ब्रुवन्ति, परकृतमुपकारं तु सभायामपि प्रख्यापयन्ति, सम्पत्सु गर्वं न विदधते, परनिन्दां न कुर्वते—एते गुणाः सज्जनानां स्वभावसिद्धाः न खलु परोपदेशमूलाः भवन्ति ।

टिप्पणी—(१) **प्रच्छन्नम्**—गुप्त । प्र√छद्+क्त । (२) **उपगते**—आये हुए । यह लुप्त 'अर्थिनि' का विशेषण है । यहाँ भाव में सप्तमी हुई । (३) **सम्भ्रमविधिः**—आदर-सत्कार की क्रिया । सम्भ्रमस्य विधिः (ष० त०) । अथवा तुरन्त अभ्युत्थान, अभिवादन आदि रूप विधि को सम्पन्न करना । सम्भ्रमेण त्वरया विधिः (सुप्सुपा स०) । 'सम्भ्रमः साध्वसेऽपि स्यात्संवेगादरयोरपि' इति मेदिनी । (४) **प्रियं कृत्वा मौनम्**—किसी का प्रिय कार्य करके चुप रहना । 'न दत्त्वा परिकीर्तयेत्' इति मनुः । (५) **उपकृतेः कथनम्**—(दूसरे के किये हुए) उपकार को कहना । भाव यह है कि सज्जन पुरुष स्वयं जो लोगों का उपकार करते हैं वह किसी के समक्ष प्रकट नहीं करते, किन्तु उन पर जो उपकार किया जाता है उसका गान वे सभी के समक्ष करते हैं । दुष्टों के कार्य ठीक इसके विपरीत होते हैं । उप√कृ+क्तिन् भावे=उपकृति । (६) **अनुत्सेकः**—गर्व न करना । न उत्सेकः अनुत्सेकः (न० त०) । (७) **निरभिभवसाराः परकथाः**—दूसरों के विषय में कहना जिसका सारांश उनके प्रति अपमान से रहित हो । अभि√भू+अप्=अभिभवः । √सृ+घञ् 'सृ स्थिरे' इत्यनेन=सारः । निर्गतः अभिभवः तिरस्कारः यस्मात् स निरभिभवः (प्रा० ब० स०), निरभिभवः सारः यासाम् ताः (ब० स०) । (८) **विषमम्**—कठिन । विगतं विरुद्धं वा समं विषमम् (प्रा० स०) । (९) **असिधाराव्रतम्**—तलवार की धार पर चलने

के समान व्रत। रघुवंश के तेरहवें सर्ग के ६७ वें श्लोक में मल्लिनाथ ने इस शब्द की व्याख्या तीन प्रकार से की है—(१) 'युवावस्थया सार्धं यन्मुग्धभर्तृवदाचरेत्। अन्तर्निवृत्तसङ्गः स्यादसिधाराव्रतं हि तत्॥' इति यादवः। अर्थात् युवा दम्पती एक साथ रहते हुए भी संगम न करे उसे असिधाराव्रत कहते हैं। (२) असिधाराशयनमिव दुष्करं व्रतम्—तीक्ष्ण तलवार की नोक पर लेटने के समान कठिन व्रत। (३) शयने मध्ये खड्गं निधाय स्त्रीपुंसौ यत्र ब्रह्मचर्येण स्वपितः तत्—जहाँ स्त्री और पुरुष अपने बीच में एक तीक्ष्ण तलवार को रखकर बिना एक दूसरे का स्पर्श किये हुए ही शयन करते हैं। इससे सत्पुरुषों द्वारा आचरित मार्ग की दुर्गमता बतायी गई है। (१०) सताम्—यहाँ विवक्षा से षष्ठी हुई है, अन्यथा 'सद्भ्यः' होना चाहिए था। (११) उद्दिष्टम्—उपदेश दिया या सिखाया। उद्√दिश्+क्त कर्मणि।

इस श्लोक में समुच्चय अलंकार और शिखरिणी छन्द है—

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरं
त्वसन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः।
विपद्युच्चैर्धैर्यं पदमनुविधेयं च महतां
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्॥५८॥

अन्वयः—प्रिया न्याय्या वृत्तिः, असुभङ्गे अपि मलिनम् असुकरम्, तु असन्तः न अभ्यर्थ्याः, कृशधनः सुहृद् अपि न याच्यः विपदि उच्चैर्धैर्यम्, महतां च पदम् अनुविधेयम्—इदं विषमम् असिधाराव्रतं सतां केन उद्दिष्टम् ?

संस्कृत-व्याख्या—प्रिया—इष्टा, न्याय्या—न्याययुक्ता, वृत्तिः—वर्तनम्, असुभङ्गे अपि—प्राणव्यये अपि, मलिनं—दुष्कृतम्, असुकरम्—अकर्तव्यम्, तु—पुनः, असन्तः—दुर्जनाः, न अभ्यर्थ्याः—न याच्याः, कृशधनः—क्षीणवित्तः, सुहृद् अपि—मित्रम् अपि, न याच्यः—न अभ्यर्थनीयः, विपदि—संकटे, उच्चैर्धैर्यम्—उच्चधीरता (धारणीया न तु विह्वलत्वम्), महतां च—महानुभावानां च, पदम्—मार्गः, अनुविधेयम्—अनुवर्तनीयम्, इदम्—एतत्, विषमं—कठिनम्, असिधाराव्रतम्—खड्गधारेव तीक्ष्णतरो नियमः, सतां—सज्जनानां, केन—पुरुषेण, उद्दिष्टम्—उपदिष्टम् न केनापीत्यर्थः।

अनुवाद—सदा न्यायसंगत और मधुर वर्ताव करना, प्राणसंकट आ जाने पर भी पाप-कर्म नहीं करना, दुर्जन से कुछ नहीं माँगना, धनहीन मित्र से भी कुछ नहीं याचना करना, विपत्ति में खूब धीरज रखना, बड़ों की चरण-सरणी का अनुसरण करना—यह कठिन असिधाराव्रत सज्जनों को किसने सिखाया ?

Who has taught good men, the difficult vow, difficult like walking on the sharp edge of a sword,—a course of conduct amiable and just, not doing sinful acts even when life is in danger, never to implore bad people, not to beg of a friend of slender means, lofty fortitude in adversity, and following in the footsteps of the great.

संस्कृत-भावार्थ—सज्जनानां न्याययुक्तो व्यवहारः सर्वेषां प्रियो भवति, प्राणसंकटेऽपि ते दुष्कर्म न कुर्वन्ति, दुर्जनान् तथा अल्पवित्तान् सुहृदः अपि न किमपि याचन्ते, विपदि उच्चधैर्यं धारयन्ति, महतामेव पदसरणिमनुवर्तन्ते। इत्थं ते विषमम् असिधाराव्रतं पालयन्ति।

टिप्पणी—(१) प्रिया—मधुर। √प्री+क 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इत्यनेन, ततः टाप्। (२) न्याय्य—न्यायसंगत। नि√अय्+घञ्=न्यायः, न्यायात् अनपेता इति न्याय+यत् 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते इत्यनेन, ततः टाप्। (३) असुकरम्—कठिन या अकर्तव्य। सु√कृ+खल् 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' इत्यनेन=सुकरम्। न सुकरम् असुकरम् (न० त०)। (४) तु—यह निरर्थक अव्यय शब्द है, केवल पादपूरणार्थ इसका प्रयोग किया जाता है। 'निरर्थकं तुहीत्यादि पूरणैकप्रयोजनम्'। हाँ, पाद के आदि में इसका प्रयोग नहीं होना चाहिए —'न पादादौ खल्वादयः' इति वामनः। यहाँ पाद के आदि में प्रयुक्त है, जो 'निरंकुशाः कवयः' के अनुसार क्षम्य है। (५) अभ्यर्थ्याः—याचना करने योग्य। अभि√अर्थ+णिच् (स्वार्थे)+यत्। (६) कृशधनः—अल्प धन वाला। √कृश्+क्त कर्तरि=कृशम् 'अनुपसर्गात् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' इत्यनेन निपातनात् सिद्धम्। कृशं धनं यस्य स कृशधनः (ब० स०)। (७) सुहृद्—मित्र। शोभनं हृदयं यस्य स सुहृद् (ब० स०), 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इत्यनेन हृदयस्य हृदादेशः। (८) उच्चैर्धैर्यम्—ऊँचा या असाधारण धैर्य। उच्चैः धैर्यम् (सुप्सुपा स०)। (९) महतां पदमनुविधेयम्—बड़े लोगों के चरण-चिह्नों का अनुसरण

करना चाहिए। (१०) विषमम्, असिधाराव्रतम्, सताम्, उद्दिष्टम्—इन शब्दों की टिप्पणी श्लोकसंख्या ५७ में देखिए।

इस श्लोक में भी समुच्चय अलंकार और शिखरिणी छन्द है।

संगति के अनुसार गुणों की उत्पत्ति—

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न श्रूयते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं दृश्यते ।
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते ॥५९॥

अन्वयः—संतप्तायसि संस्थितस्य पयसः नाम अपि न श्रूयते तत् एव नलिनीपत्रस्थितम् मुक्ताकारतया दृश्यते । तत् स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितम् मौक्तिकम् जायते, प्रायेण अधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतः जायते ।

संस्कृत-व्याख्या—संतप्तायसि—संतप्ते अग्नितप्ते अयसि लोहे, संस्थितस्य—निक्षिप्तस्य पतितस्य वा, पयसः—जलस्य, नाम अपि न श्रूयते—लेशमात्रमपि न अवशिष्यते इत्यर्थः, तत् एव—पयः, नलिनीपत्रस्थितं—कमलिनीपत्रस्थं (सत्), मुक्ताकारतया—, स्वात्यां—स्वातीनक्षत्रे, सागरशुक्तिमध्यपतितं—सागरे समुद्रे या शुक्तिः शुक्तिका तस्याः मध्ये उदरे पतितं (सत्), मौक्तिकं—मुक्ता, जायते, प्रायेण—प्रायशः, अधममध्यमोत्तमगुणः—अधमश्चासौ मध्यमश्च इति अधममध्यमः अधममध्यमश्चासौ उत्तमश्च इति अधममध्यमोत्तमः तादृशः गुणः यस्य सः, संसर्गतः—संगात्, जायते—उत्पद्यते ।

अनुवाद—गरम लोहे पर पड़ने से जल छनछना कर जल जाता है उसका नाम भी नही सुना जाता, कमल के पत्ते पर पड कर वही मोती के आकार का दिखाई पड़ता है, फिर वही समुद्र की सीपियों मे पड कर मोती बन जाता है। प्राय: अधम, मध्यम और उत्तम गुण संसर्ग से ही उत्पन्न होता है।

Not even the name of water is heard when it falls upon heated iron: the same water lying on a lotus leaf appears like a pearl; it grows into a pearl when it falls in the mouth of an oyster during the Swati constellation. Generally, the low, the medium and the high degree of excellence arises from association.

संस्कृत-भावार्थ—सप्तलौहपिण्डे पतितं जलं सद्यो नश्यति, तदेव जलं नलिनीपत्रे स्थापितं सत् मुक्ताकारत्वं लभते, पुनस्तदेव जलं स्वातीनक्षत्रे समुद्रस्य-शुक्तिकायाः उदरे पतितं सत् मौक्तिकं जायते । अनेन ज्ञायते यत् अधममध्यमोत्तमाः गुणाः संसर्गवशात् जायन्ते अर्थात् यादृशे संसर्गे यः पतति सः तादृशमेव गुणं धत्ते । अन्यत्राप्युक्तमस्ति—'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' । अतएव महदाश्रयः कर्तव्यः ।

टिप्पणी—(१) **सन्तप्तायसि**—तपे लोहे पर । सन्तप्तम् अयः (कर्म० स०), तस्मिन् । अधिकरणे सप्तमी । (२) **नामापि न श्रूयते**—नाम तक नहीं सुनाई पड़ता है, बिलकुल गायब हो जाता है । (३) **नलिनीपत्रस्थितम्**—कमल के पत्ते पर स्थित । नलिन्याः पत्रम् (ष० त०), तस्मिन् स्थितम् (स० त०) । (४) **मुक्ताकारतया**—मोती की शकल में । मुक्तायाः आकार इव आकारो यस्य तत् मुक्ताकारम् (ब० स० उत्तरपदलोपश्च) 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिः वाच्यः वोत्तरपदलोपश्च' इत्यनेन । यथा—उष्ट्रमुखम् इत्यादौ । मुक्ताकारस्य भावः मुक्ताकारता मुक्ताकार+तल्+टाप्, तया । करणे तृतीया । (५) **स्वात्याम्**—स्वाती नक्षत्र में । कहते हैं कि स्वाती नक्षत्र में वर्षा का जल यदि सीपी के मुंह में पड़ता है तो वह मोती बन जाता है, यदि सांप के मुंह में पड़ता है तो विष बन जाता है और यदि बांस के छिद्र में पड़ता है तो वंशलोचन बन जाता है । (६) **सागरशुक्तिमध्यपतितम्**—समुद्र की सीपी के भीतर गिरा हुआ । सागरस्य शुक्तिः (ष० त०), तस्याः मध्यम् (ष० त०), तस्मिन् पतितम् (स० त०) । (७) **मौक्तिकम्**—मोती । मुक्ता एव मौक्तिकम् मुक्ता+ठक् स्वार्थे विनयादित्वात् । (८) **प्रायेण**—अधिकतर । 'प्रायो बाहुल्यतुल्ययोः' इति मेदिनी । (९) **अधममध्यमोत्तमगुणः**—अधमश्चासौ मध्यमश्च (विशेषणोभयपदकर्म स०) 'खञ्जकुब्जः' के समान । अधममध्यमश्चासौ उत्तमश्च इति अधममध्यमोत्तमः (पूर्ववत् कर्म० स०) । अधममध्यमोत्तमः गुणः यस्य स अधममध्यमोत्तमगुणः (ब० स०) । (१०) **संसर्गतः**—संगति से । संसर्ग+तस् 'अपादाने चाहीयरुहोः' इत्यनेन । (११) **जायते**—उत्पन्न होता है यहाँ पुनरुक्त दोष है । तीसरे चरण में भी यह पद आ चुका है । अन्तिम चरण का पाठभेद मिलता है, जो अच्छा है—'प्रायेणाधममध्यमोत्तमजुषामेवंविधा वृत्तयः'

इस श्लोक में क्रमानुसार अन्वय होने से यथासंख्य अलंकार है। इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

बड़े पुण्यों से प्राप्त होने वाले पदार्थ—

यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् ।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं य-
देतत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥६०॥

अन्वय.—यः सुचरितैः पितरम् प्रीणयेत् स पुत्रः । यत् भर्तुः हितम् एव इच्छति तत् कलत्रम् । यत् आपदि सुखे च समक्रियम् तत् मित्रम् । एतत् त्रयम् जगति पुण्यकृतः लभन्ते ।

संस्कृत-व्याख्या—यः—पुत्रः, सुचरितैः—सदाचरणैः, पितरं—जनकं, प्रीणयेत्—सन्तोषयेत्, सः, पुत्रः—तनयः । यत्, भर्तुः—पत्युः, हितम्—इष्टम्, एव, इच्छति—वाञ्छति, तत् कलत्रं—भार्या । यत्, आपदि—संकटे, सुखे—संपदि, च, समक्रियं—तुल्यवृत्तिः, तत्, मित्रं—सुहृत् । एतत् त्रयं—सुपुत्रं सुकलत्रं सुमित्रं च, जगति—संसारे, पुण्यकृतः—पुण्यशालिनः (जनाः), लभन्ते—प्राप्नुवन्ति ।

अनुवाद—जो अपने सुन्दर चरित्रों से पिता को प्रसन्न करे वही पुत्र है । जो अपने पति का हितमात्र चाहती है वही स्त्री है । वही मित्र है जो अपने मित्र के सुख-दुःख में एक समान बना रहता है । पुण्यवान् लोग ही संसार में ये तीनों पदार्थ पाते हैं ।

He is the son who gratifies his father by his good actions. That is wife who desires only the good of her husband. That is the friend who acts uniformly in adversity and prosperity. These three the pious alone do get in this world.

संस्कृत-भावार्थ—संसारे पितृसन्तोषकारकः सत्पुत्रः, पतिहितपरायणा सुभार्या समदुःखसुखं सन्मित्रं पुण्येनैव प्राप्यन्ते, कुपुत्रादिप्राप्तिः पापकर्मणा फलम् ।

टिप्पणी—(१) सुचरितैः—सुन्दर चरित्रों या आचरणों से । शोभनानि चरितानि (प्रा० स०), तैः । करणे तृतीया । (२) प्रीणयेत्—सन्तुष्ट करे ।

√प्री (तर्पणे)+विधिलिङ् । (३) पुत्रः—पुन्नामनरकात् त्रायते यः स पुत्रः न तु जातमात्रः पुत्रः पुत् √त्रै+क । 'जीवतोर्वाक्यकरणात् प्रत्यब्दं भूरिभोजनात् । गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता' ।। (४) कलत्रम्—पत्नी । यह नित्य नपुंसकलिंग शब्द है । (५) समक्रियम्—एक समान काम करने वाला । समा क्रिया यस्य तत् समक्रियम् (ब० स०) । (६) त्रयम्—तीनों । त्रि+तयप् 'संख्याया अवयवे तयप्' इत्यनेन, ततः 'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा' इत्यनेन तयपः अयजादेशः=त्रयम् वा त्रितयम् । (७) पुण्यकृतः—पुण्यात्मा । पुण्यं कुर्वन्ति इति पुण्य√कृ+क्विप् 'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः' इत्यनेन, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इत्यनेन तुक् आगमः ।

इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है ।

अभिनन्दनीय सज्जन—

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान्गुणान्ख्यापयन्तः
स्वार्थान्संपादयन्तो विततपृथुतरारम्भयत्नाः परार्थे ।
क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान्दुर्जनान्दूषयन्तः
सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः ।।६१।।

अन्वयः—नम्रत्वेन उन्नमन्तः, परगुणकथनैः स्वान् गुणान् ख्यापयन्तः, परार्थे विततपृथुतरारम्भयत्नाः स्वार्थान् संपादयन्तः, क्षान्त्या एव आक्षेपरूक्षाक्षरमुखर-मुखान् दुर्जनान् दूषयन्तः, साश्चर्यचर्याः सन्तः जगति बहुमताः कस्य न अभ्यर्चनीयाः ?

संस्कृत-व्याख्या—नम्रत्वेन—नम्रतया, उन्नमन्तः—उन्नतिं प्राप्नुवन्तः, पर-गुणकथनैः—परेषाम् अन्येषां गुणकथनैः सद्गुणप्रशंसनैः, स्वान्—निजान, गुणान्, ख्यापयन्तः—प्रकटयन्तः, परार्थे—परप्रयोजननिर्वहणे, विततपृथुतरारम्भयत्नाः—विततः विस्तृताः पृथुतराः महत्तराः च आरम्भाः कार्याणि तेषु यत्नाः उद्योगाः येषां तादृशाः, स्वार्थान्—स्वप्रयोजनानि, सम्पादयन्तः—निष्पादयन्तः, क्षान्त्या—सहनशीलतया, एव, आक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान्—आक्षेपेण निन्दया रूक्षाक्षराणि परुषवाक्यानि तैः मुखराणि वाचालानि मुखानि आननानि येषां तान्, दुर्जनान्—खलान्, दूषयन्तः—तिरस्कुर्वन्तः, (अतएव) साश्चर्यचर्याः साश्चर्या आश्चर्यान्विता चर्या आचरणं येषां तथाविधाः, सन्तः—सज्जनाः, जगति—लोके, बहुमताः—समादृताः, कस्य—जनस्य न अभ्यर्चनीयाः—न पूजनीयाः ?

अनुवाद—सबसे नव कर रहने पर भी उन्नत बने रहते, पराये का गुण गान करने अपना गुण फैलाते, पराये के हित-साधन का प्रयत्न करते हुए अपना स्वार्थ साधते, जिन दुर्जनों के मुख उनकी निन्दा करते रहते उन दुर्जनों के भद्दे-भद्दे आक्षेपों को सहकर उनको अपनी सहनशीलता से तिरस्कृत करते, ऐसे अद्भुत आचरण वाले सन्तजन संसार में किनके पूजनीय नही होते ?

Prospering by his humility, propagandising own merits by extolling those of others, achieving their own ends by attempting for the good of others, extensive big works, rebuking with their forbearance calumnitors (lit. wicked people) whose tongues (mouths) are clamorous with harsh syllables of accusation—good people of such wonderous behaviour are highly esteemed in the world. Who should not adore them ?

संस्कृत-भावार्थ—विनयशीलत्वेन उन्नति कुर्वन्तः परगुणकथनैः स्वान् गुणान् प्रकटयन्तः परकार्यसाधनपुरस्कारेणैव निजकार्याणि साधयन्तः सहनशीलतया एव दुर्जनपरुषवाक्यानि तिरस्कुर्वन्तः आश्चर्यचरित्राः सत्पुरुषाः कस्य न पूजनीयाः ? सर्वेषामपि पूजनीयाः सन्ति ।

टिप्पणी—(१) **नम्रत्वेन**—नम्रता से । करणे तृतीया । **उन्नमन्तः**—उन्नति करते हुए । उद्√नम्+लट्—शतृ । यहाँ विरोधाभास अलंकार है । (२) **परगुणकथनैः**—दूसरों के गुणों को कहने से । परेषां गुणाः (ष० त०), तेषां कथनानि (ष० त०), तैः । करणे तृतीया । (३) **ख्यापयन्तः**—फैलाते हुए √ख्या+णिच्, पुक्+शतृ । सज्जन गुणी एवं गुणग्राही, मानी एवं मानद दोनों होते हैं । (४) **परार्थे**—दूसरों के लिए । परेषाम् अर्थः प्रयोजनम् (ष० त०), तस्मिन् । (५) **विततपृथुतरारम्भयत्नाः**—विस्तृत एवं महान् कार्य के लिए प्रयत्नशील । वि√तन्+क्त कर्मणि=विततः । पृथु+तरप्=पृथुतरः । आ√रम्+घञ् भावे, 'उपसर्गात् खल्घञोः' इति सूत्रेण मुमागमः=आरम्भः । √यत्+न=यत्नः । वितताः च पृथुतराः च इति विततपृथुतराः (द्व० स०), तादृशाः आरम्भाः (कर्म० स०), विततपृथुतरारम्भेषु यत्नाः येषां ते (ब० स०) । (६) **क्षान्त्या**—क्षमा से । √क्षम्+क्तिन् भावे=क्षान्तिः, तया । करणे तृतीया । (७) **आक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान्**—निन्दा के रूखे अक्षरों से वाचाल मुख वाले । आ√क्षिप्+घञ्=आक्षेपः । मुख+र=मुखर । आक्षेपेण वा आक्षेपस्य रूक्षाक्षराणि (तृ० त० वा

ष० त०), आक्षेपस्क्षाक्षरैः मुखराणि (तृ० त०), आक्षेपरूक्षाक्षरमुखराणि मुखकृति येषां ते (ब० स०)। (८) दूषयन्तः—दूषित करते हुए या अपराधी ठहराते हुए। √दुष्+णिच्+लट्=शतृ (९) साश्चर्यचर्याः—आश्चर्ययुक्त आचरण वाले। आश्चर्येण सह वर्तमाना या सा साश्चर्या (तुल्ययोगे ब० स०), साश्चर्या चर्या येषां ते (ब० स०)। (१०) बहुमताः—बहुत आदरणीय या पूजनीय। √मन्+क्त कर्मणि=मताः, बहु यथा स्यात् तथा मताः बहुमताः (सुप्सुपा स०)। (११) अभ्यर्चनीयाः—सर्वतोभावेन पूजा करने योग्य। अभि√अर्च्+अनीयर्।

इस श्लोक के तीसरे चरण में कठोर अक्षरों के प्रयोग से यहाँ श्रुतिकटुत्व दोष आ गया है। इसमें काकुवक्रोक्ति अलंकार और स्रग्धरा छन्द है।

अथ परोपकारपद्धतिः

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्॥६२॥

अन्वयः—तरवः फलोद्गमैः नम्राः भवन्ति, घनाः नवाम्बुभिः दूरविलम्बिनः (भवन्ति); सत्पुरुषाः समृद्धिभिः अनुद्धताः (भवन्ति) एषः परोपकारिणाम् स्वभावः एव (अस्ति)।

संस्कृत-व्याख्या—तरवः—वृक्षाः, फलोद्गमैः—फलानां प्रादुर्भावैः, नम्राः—अवनताः, भवन्ति—जायन्ते, घनाः—मेघाः, नवाम्बुभिः—नूतनैः वार्षिकजलैः, दूरविलम्बिनः—दूरपर्यन्तं भूमावतिनीचैः प्रदेशेष्विति यावत् विलम्बन्ते नम्रीभवन्तीति तथाभूताः (भवन्ति), सत्पुरुषाः—सज्जनाः, समृद्धिभिः—विभवैः, अनुद्धताः—अनुद्दण्डाः (भवन्ति), एष—अयम् परोपकारिणां—लोकोपकाररतानाम्, स्वभाव एव—प्रकृतिरेव (अस्ति)।

अनुवाद—फल के भार से वृक्ष नव जाते हैं, जल से भर जाने पर घटा आकाश में लटक जाती है; ऐसे ही सज्जन लोग समृद्धि पाकर उद्धत नहीं होते; परोपकारी जीवों का यही स्वभाव है।

Trees bend down with the advent of fruits. Clouds hang down very low on account of fresh rains (water). The good

come not puffed-up, with riches. Such, indeed is the benefactors of others.

संस्कृत-भावार्थ—यथा वृक्षाः फलोद्गमैः एवं मेघाः नवाम्बुभिः नम्रीभवन्ति तथा सत्पुरुषाः समृद्धिभिः विनम्राः भवन्ति; यतो हि परोपकारिणाम् एष स्वभावः खलु ।

टिप्पणी—(१) फलोद्गमैः—फलों के लगने से । फलानाम् उद्गमाः (ष० त०), तैः । हेतौ तृतीया । उद्√गम्+अप् 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' इत्यनेन=उद्-गम । (२) घनाः—बादल । √हन्+अप् 'मूर्तौ घनः' इत्यनेन । (३) नवाम्बुभिः नये जल से । नवानि अम्बूनि (कर्म० स०), तैः । हेतौ तृतीया । (४) दूरविल-म्बिनः—दूर तक लटकने वाले । दूरं विलम्बितुं शीलं येषां ते दूरविलम्बिनः दूर-वि√लम्ब्+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये, (उपपद स०) । (५) सत्पुरुषाः—सज्जन लोग । सन्तः पुरुषाः (कर्म० स०) । (६) समृद्धिभिः—ऐश्वर्यों से । सम्√ ऋध्+क्तिन्=समृद्धयः, ताभिः । हेतौ तृतीया । (७) परोपकारिणाम्—दूसरे के उपकारकों का । उप√कृ+णिनि=उपकारिणः, परेषाम् उपकारिणः (ष० त०), तेषाम् ।

इस श्लोक के प्रथम तीन चरणों में एक ही 'भवन्ति' क्रिया से सबका अन्वय होने से क्रियादीपक अलंकार है । अचेतन वृक्ष और मेघ में चेतन में रहने वाले नम्रता और दूरविलम्बित गुण के अभेद रूप से वर्णन होने से अतिशयोक्ति है । विनय गुण के ही प्रकारान्तर से तीनों पदों में वर्णन होने से मालाप्रतिवस्तूपमा है । चतुर्थ चरण में अर्थान्तरन्यास है । इसमें वंशस्थ छन्द है । छन्द का लक्षण—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' ।

विशेष—यह श्लोक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में आया है । इसलिए भर्तृहरि का यह अपना श्लोक नहीं है । ऐसे भर्तृहरि के कई श्लोक शतक से प्राचीन ग्रन्थों में मिलते है ।

वास्तविक आभूषण—

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन ।
विभाति कायः करुणाकुलानां परोपकारेण न चन्दनेन ॥६३॥

अन्वयः—करुणाकुलानाम् श्रोत्रम् श्रुतेन विभाति कुण्डलेन न, पाणिः दानेन (विभाति) कङ्कणेन न, कायः परोपकारेण (विभाति) चन्दनेन न।

संस्कृत-व्याख्या—करुणाकुलानां—दयालूनां सत्पुरुषाणां, श्रोत्रं—कर्णः, श्रुतेन—वेदादिशास्त्रश्रवणेन, विभाति—शोभते, कुण्डलेन—कर्णवेष्टनेन, न—नहि (विभाति), पाणिः—हस्तः, दानेन—सत्पात्रत्यागेन (विभाति), कङ्कणेन—कनकवलयेन, न (विभाति), कायः—देहः, परोपकारेण—परेषां हितसाधनेन (विभाति), चन्दनेन—चन्दनलेपनेनेति यावत् न (विभाति)।

अनुवाद—करुणामय पुरुषों के कान की शोभा शास्त्र-श्रवण से है, कुण्डल से नहीं। हाथ की शोभा दान से, न कि कङ्कण पहनने से और शरीर परोपकार से शोभता है, न कि चन्दन लगाने से।

The ear of the benevolent shines by listening to Vedic lore and not with an ear-ring, his hand with charity and not with a bangle, his body, with beneficence and not with sandal paint.

संस्कृत-भावार्थ—महात्मनां शास्त्रपुराणश्रवणदानपरोपकारा एव भूषणं न तु कुण्डलकङ्कणचन्दनानि।

टिप्पणी—(१) करुणाकुलानाम्—करुणा से विह्वल, परम दयालु। करुणया आकुलाः (तृ० त०), तेषाम्। (२) श्रोत्रम्—कान। √श्रु+ष्ट्रन् (त्र)। (३) श्रुतेन—शास्त्र—शास्त्रज्ञान—वेदशास्त्र-श्रवण। √श्रु+क्त (त) (भावे) =श्रुतम्=श्रवणम्। करणे तृतीया। 'श्रुतं शास्त्रावधृतयोः' इति विश्वः। (४) कुण्डलेन—कुंडल से।यहाँ सभी तृतीयान्त पदों में करणे तृतीया है। (५) कायः—शरीर। चीयते अस्मिन् अस्थ्यादिकम् इति कायः √चि+घञ् (अ)। चि धातु के रूप—चिनोति (लट्), चिकाय—चिचाय (लिट्), अचैषीत् (लुङ्)।

इस श्लोक में कुंडल, कङ्कण तथा चन्दन का पूर्ण रूप से निषेध करके कान, हाथ तथा शरीर की शोभा क्रमशः शास्त्रश्रवण, दान तथा उपकार से बतलायी गई है, अतः परिसंख्या अलंकार है। 'किञ्चित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते। तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता'। इसमें उपजाति छन्द है।

सज्जनों को प्रेरणा की आवश्यकता नहीं—

पद्माकरं दिनकरो विकचं करोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम्।

नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः ॥६४॥

अन्वयः—दिनकरः नाभ्यर्थितः (सन्) पद्माकरम् विकचम् करोति । चन्द्रः (नाभ्यर्थितः) कैरवचक्रवालम् विकासयति, जलधरः अपि (नाभ्यर्थितः सन्) जलम् ददाति । सन्तः स्वयम् परहिते विहिताभियोगाः (भवन्ति) ।

संस्कृत-व्याख्या—दिनकरः—सूर्यः, नाभ्यर्थितः—न प्रार्थितः (सन्) पद्माकरं—कमलवनं, विकचं—प्रफुल्लं, करोति—विदधाति, चन्द्रः—इन्दुः, (नाभ्यर्थितः) कैरवचक्रवालं—कुमुदषण्डं वा कुमुदानि, विकासयति—विकचयति, जलधरः—मेघः, अपि, (नाभ्यर्थितः) जलं—पानीयं, ददाति—वर्षति । सन्तः—सत्पुरुषाः, स्वयम्—आत्मनैव, परहिते—अन्येषां हितसाधने, विहिताभियोगाः—विहितः कृतः अभियोगः अभिनिवेशः यैः तादृशाः (भवन्ति) ।

अनुवाद—सूर्य कमलों को खिलाता है, चन्द्रमा कुमुदिनी के समूह को खिलाता है, मेघ भी बिना किसी के विनती करने पर ही जल बरसाता है । सन्त लोग अपने ही आप, किसी के प्रार्थना न करने पर भी, परोपकार करने का आग्रह करते हैं ।

The sun, though unsolicited, makes the multitude of lotuses bloom, the moon, though unasked, causes the circle of the lilies to bloom, the cloud showers rain (water) though unimplored. Good people, of their own accord, persist in doing good to others.

संस्कृत-भावार्थ—सूर्यः कमलवनं विकसितं करोति; तत्र न कश्चन तं तथा कर्तुं प्रार्थयते । कुमुदानि विकासयितुं चन्द्रमसमपि न कश्चन अभ्यर्थयते तथापि सः तानि विकासयति । मेघोऽपि प्रार्थनामन्तरैव जलं ददाति । अनेन ज्ञायते यत् सज्जनाः अनुक्ता अपि परेषां हितकारकं कर्म कर्तुं स्वयं प्रवृत्ता भवन्ति ।

टिप्पणी—(१) दिनकरः—सूर्य । दिनं करोतीति दिनकरः दिन√कृ+ट(अ) 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इत्यनेन । (२) नाभ्यर्थितः—बिना माँगे ही । अभि√अर्थ्+क्त कर्मणि=अभ्यर्थितः । न अभ्यर्थितः (सुप्सुपा स०) । (३) पद्माकरम्—कमल-समूह या कमल-वन को । पद्मानाम् आकरः (ष० त०),

तम्। कर्मणि द्वितीया। (४) विकचम्—विकसित। विगतः कचः अस्मात् इति विकचः (प्रा० ब० स०), तम्। (५) कैरवचक्रवालम्—कुमुदों के समूह को। कैरवाणां चक्रवालम् (ष० त०), तत्। (६) जलधरः—बादल। मेघ। धरतीति धरः√धृ+अच् पचादित्वात्। जलस्य धरः जलधरः (ष० त०)। 'एवं गंगाधरभूधरादयः' इति सिद्धान्तकौमुदी। (७) परहिते—दूसरों की भलाई (के कार्य) में। √धा+क्त भावे=हितम्। परेषां हितम् (ष० त०), तस्मिन्। विषयाधिकरणे सप्तमी। (८) विहिताभियोगाः—दृढ आग्रह से युक्त। वि√धा+क्त कर्मणि=विहित। अभि√युज्+घञ् (अ) भावे=अभियोग। विहितः कृतः अभियोगः अभिनिवेशः यैः ते विहिताभियोगाः (ब० स०)। भाव यह है कि सज्जन पुरुष बिना कहे ही लोगों की भलाई के लिए कटिबद्ध रहते हैं।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार है और वसन्ततिलका छन्द है।

मनुष्यों की चार श्रेणियाँ—

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥६५॥

अन्वयः—ये स्वार्थान् परित्यज्य परार्थघटकाः एते सत्पुरुषाः, ये स्वार्थाविरोधेन परार्थम् उद्यमभृतः (ते) तु सामान्याः, ये स्वार्थाय परहितम् निघ्नन्ति ते अमी मानुषराक्षसाः। ये तु निरर्थकम् परहितम् घ्नन्ति ते के इति न जानीमहे।

संस्कृत-व्याख्या—ये—पुरुषाः, स्वार्थान्—स्वप्रयोजनानि, परित्यज्य—त्यक्त्वा, परार्थघटकाः—अन्यप्रयोजनसाधकाः, एते, सत्पुरुषाः—पुरुषोत्तमाः, ये—पुरुषाः, स्वार्थाविरोधेन—स्वार्थस्य अविरोधेन असंघट्टनेन स्वार्थसाधनापूर्वकमिति यावत्, परार्थम्—परप्रयोजननिर्वाहार्थम्, उद्यमभृतः उद्यमशीलाः, (ते) तु, सामान्याः—साधारणाः जनाः, ये, स्वार्थाय—स्वप्रयोजनसाधनाय, परहितं—परप्रयोजनं, निघ्नन्ति—नाशयन्ति, ते, अमी, मानुषराक्षसाः—मानुषेषु मनुष्येषु, राक्षसाः दानवाः, ये, तु, निरर्थकं—निष्फलं, परहितं—परप्रयोजनं, घ्नन्ति—नाशयन्ति, ते—पुरुषाः, के, इति, वयं, न जानीमहे—न विद्मः।

अनुवाद—पराये के हित के लिये जो अपने हित का ख्याल नहीं करते हैं वे उत्तम, जो अपने हित को विना कुछ हानि किये ही औरों का हित करते हैं वे सामान्य-साधारण, और जो अपनी भलाई के लिये औरों के हित को नष्ट करते हैं वे अधम हैं, मनुष्य नामधारी राक्षस हैं। पर जो व्यर्थ ही पराये के हित की हानि करते हैं उनको हम क्या कहें—नहीं जानते।

Those who do good to others giving up their own self-interests, are good people and those are ordinary people who try to do good to others without harming their own interest, while those who destroy others' good for their own are demons among men, we do not know what are they who destroy good of others without any purpose.

संस्कृत-भावार्थ—ये स्वार्थम् उपेक्ष्य परहितं साधयन्ति ते सत्पुरुषाः; ये स्वार्थसाधनपूर्वकं परार्थं साधयन्ति ते सामान्याः जनाः; ये स्वार्थाय परहितं नाशयन्ति ते मनुष्येषु दानवाः सन्ति; परन्तु ये निरर्थकं परहितं निघ्नन्ति ते परमनीचाः जनाः कियामतो व्यवहरणीयाः इति वयं न जानीमहे, सुधियो विभावयन्तु।

टिप्पणी—(१) परार्थघटकाः—दूसरों का प्रयोजन सिद्ध करने वाले। घटयन्ति इति घटकाः √घट्+णिच्+ण्वुल्। परेषाम् अर्थाः परार्थाः (ष० त०), तेषाम् घटकाः सम्पादकाः (ष० त०)। (२) एते—यह सर्वनाम 'ये' के लिए आया है। प्रायः देखा जाता है कि 'ये' के लिए 'ते' ही आता है, किन्तु 'यत्तदर्थयोर्नित्योऽभिसम्बन्धः' इस नियम के अनुसार यत् शब्द तत् शब्द तथा तत्शब्द-समानार्थक अदस् आदि शब्दों की अपेक्षा रखता है। इसलिए यहाँ 'यत्—ये' के लिए 'एतत्—एते' का प्रयोग अनुचित नहीं है। (३) स्वार्थाविरोधेन—स्वार्थ का विरोध न करके या स्वार्थ को न छोड़कर। स्वस्य अर्थः (ष० त०), न विरोधः अविरोधः (न० त०), स्वार्थस्य अविरोधः (तृ० त०), तेन। करणे तृतीया। (४) परार्थम्—दूसरों के कार्य के लिए। परेभ्यः इदम् इति परार्थम् (नित्य तत्पुरुष स०) 'अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता च' इत्यनेन। (५) उद्यमभृतः—प्रयत्नशील। उद्√यम्+अप्=उद्यम। उद्यमं बिभ्रति इति उद्यम √भृ+क्विप्, तुक् आगम। (६) स्वार्थाय—अपने प्रयोजन के लिए। स्वस्य अर्थः स्वार्थः (ष० त०), स्वार्थं साधयितुम् इति स्वार्थाय 'क्रियार्थोपपदस्य च

कर्मणि स्थानिनः' इति सूत्रेण चतुर्थी। (७) मानुषराक्षसाः—मनुष्यों में राक्षस। मनोर्जातः मनुष्यः मनु+अञ्, षुगागम। मनुष्य एव मानुषः मनुष्य+अण्, वृद्धि, यलोप। मनु प्रजापति की एक कन्या थी। उसी से मनुष्य जाति की उत्पत्ति हुई। मानुषेषु राक्षसाः (स० त०) अथवा मानुषाः राक्षसाः इव (उपमित स०)। (८) निरर्थकम्—व्यर्थ में। निर्गतः अर्थः यस्मात् तत् निरर्थकम् (ब० स०), समासान्तः कप्प्रत्ययः, क्रियाविशेषणे द्वितीया। (९) जानीमहे—√ज्ञा+लट् 'अनुपसर्गाज्ज्ञः' इति सूत्रेणात्मनेपदम्।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

सन्मित्र का लक्षण—

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं निगूहति गुणान्प्रकटीकरोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥६६॥

अन्वयः—पापात् निवारयति, हिताय योजयते, गुह्यम् निगूहति, गुणान् प्रकटीकरोति, आपद्गतम् न जहाति, काले च ददाति, इदम् सन्तः सन्मित्रलक्षणम् प्रवदन्ति।

संस्कृत-व्याख्या—पापात्—दुष्कर्मणः, निवारयति—निवर्तयति, हिताय—सत्कर्मणे कल्याणाय वा, योजयते—प्रवर्तयते, गुह्यं—गोप्यं, निगूहति—आच्छादयति, गुणान्—दयादाक्षिण्यादिसद्गुणान्, प्रकटीकरोति—प्रख्यापयति, आपद्गतं—संकटस्थं, न जहाति—न त्यजति, काले—व्यसनादिसमये, च, ददाति—धनादिकं प्रयच्छति, इदम्—एतत्, सन्तः—सत्पुरुषाः, सन्मित्रलक्षणं—सन्मित्रस्य सुहृदः लक्षणं स्वरूपं, प्रवदन्ति—कथयन्ति।

अनुवाद—पाप करने से अलग रखता, अच्छा काम करने में लगाता, (मित्र की) छिपाने योग्य बात छिपाता और (उसके) गुणों को फैलाता, विपद्ग्रस्त देखकर न छोड़ता, समय आने पर कुछ देता—सन्त जन सच्चे मित्र का यही लक्षण बतलाते हैं।

Good people thus describe the characteristic of a good friend. He dissuades (friend) from sin, persuades (him) to good

-tion conceals (his) secrets publishes (his) merits, forsakes (him) not when in distress, and gives (him) in the time of need.

संस्कृत-भावार्थ—सन्मित्रं तदेव यत् स्वमित्रं पापाचरणात् निवारयति सत्कर्मणि प्रवर्तयति तस्य गोप्यं विषयं निगूहति गुणान् प्रकटीकरोति विपत्तिग्रस्तमपि तत् न त्यजति तथा समयोचितं साहाय्यं करोति ।

टिप्पणी—(१) पापात्—बुरे कामों से । अत्र 'वारणार्थानामीप्सितः' इति सूत्रेण पञ्चमी । (२) निवारयति—रोकता है । नि√वृ+णिच्+लट्—तिप् । (३) हिताय—भलाई का काम करने के लिए । अत्र 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति सूत्रेण चतुर्थी । हितम् आचरितुं योजयते । (४) निगूहति—छिपाता है । नि√गुह्+लट्—तिप् । √गुह्+क्त=गूढ । √गुह्+तुमुन्=गुहितुम् वा गोढुम् √गुह्+क्त्वा=गूहित्वा वा गुहित्वा । (५) प्रकटीकरोति—प्रकट करता है । अप्रकटान् प्रकटान् करोति इति प्रकट+च्वि√कृ+लट्—तिप् 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' इत्यनेन, ततः 'अस्य च्वौ' इत्यनेन ईत्वम् । (६) जहाति—छोड़ता है । √हा (त्यागे)+लट्—तिप् । जहाति, जहौ, अहासीत् । (७) काले ददाति—समय पर देता है अर्थात् आवश्यकता के समय अपने मित्र की सहायता करता है । (८) सन्तः—सत्पुरुष । √अस्+लट्—शतृ=सत् सन्तौ सन्तः । यहाँ 'विशेषणमात्रप्रयोगो विशेष्यप्रतिपत्तौ' इस वामनोक्ति के अनुसार 'सन्तः' का प्रयोग संज्ञा के रूप में हुआ है । यहाँ प्रश्न होता है कि 'लटः शतृशानचौ अप्रथमासमानाधिकरणे' सूत्र से 'सन्तः' इस प्रथमान्त पद में शतृ नहीं होना चाहिए, किन्तु सिद्धान्तकौमुदी में उसी सूत्र पर ऐसे स्थलों के लिए उत्तर दे दिया गया है—'लडित्यनुवर्तमाने पुनर्लड्ग्रहणमधिकविधानार्थम् । तेन प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित् । सन् ब्राह्मणः ।' (९) इदम्—यहाँ 'नपुंसकमनपुंसकेन एकवत् चान्यतरस्याम्' सूत्र से एकवद्भाव तथा नपुंसक सर्वनाम का एकशेष हुआ । (१०) सन्मित्रलक्षणम्—सच्चे मित्र का लक्षण । सत् मित्रम् (कर्म० स०), तस्य लक्षणम् (ष० त०) ।

इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है ।

सज्जनों की मैत्री का दृष्टान्त—

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः
क्षीरोत्तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः ।

गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्टवा तु मित्रापदं
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी ॥६७॥

अन्वयः—क्षीरेण आत्मगतोदकाय पुरा ते अखिलाः गुणाः दत्ता हि । क्षीरोत्तापम् अवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः । तत् (कर्तृपदम्) तु मित्रापदम् दृष्ट्वा पावकम् गन्तुम् उन्मनाः अभवत् । तेन जलेन युक्तम् (सत्) (क्षीरम्) शाम्यति । सताम् मैत्री पुनः तु ईदृशी ।

संस्कृत-व्याख्या—क्षीरेण—दुग्धेन, आत्मगतोदकाय—आत्मानं गतं प्राप्तम् उदकं जलं तस्मै स्वाङ्गभूतजलायेति यावत्, पुरा—पूर्वम्, ते—प्रसिद्धाः, अखिलाः—समस्ताः, गुणाः—माधुर्यधावल्यादिकाः, दत्ताः हि—वितीर्णाः खलु । क्षीरोत्तापम्—क्षीरस्य (श्रपणार्थम् अग्न्युपरि निहितस्य) दुग्धस्य उत्तापं सन्तपनम्, अवेक्ष्य—दृष्ट्वा, तेन—क्षीरमिश्रितेन, पयसा—जलेन, स्वात्मा—स्वशरीरं, कृशानौ—वह्नौ, हुतः—मित्रसन्तापस्य असहनात् संशोषित इत्यर्थः । तत्—क्षीरं (कर्तृ), मित्रापदं—मित्रस्य जलस्य आपदं संशोषणरूपां विपत्तिं, दृष्ट्वा—अवलोक्य, पावकम्—अग्निं, गन्तुं—यातुम्, उन्मनः—उद्युक्तम्, अभवत्—जातम् । तेन, जलेन—वारिणा, युक्तम्—अन्वितं (सत्), (क्षीरं) शाम्यति—प्रशान्तं भवति । सतां—सज्जनानां, मैत्री—मित्रता, पुनः—भूयः, तु, ईदृशी—परस्परदुःखासहनशीला (भवति) ।

अनुवाद—पहले दूध ने अपने में मिले जल में अपने सारे गुण दे डाले (रंग, रूप, मिठास इत्यादि) । इसलिये अपने मित्र के दुःख को देखकर—उसको औटाये जाते देख जल ने पहले अग्नि में अपनी आत्माहुति कर दी । पर अपने मित्र जल को आग में जलता देख दूध (उफना कर) आग में कूद पड़ना चाहता । लेकिन जब उफनाते हुए दूध पर जल छिड़का जाता है तब वह शान्त हो जाता है । सज्जनों की मित्रता ऐसी ही होती है ।

At first, milk imparted all its qualities to water mingled with it; on seeing the distress (heating) of milk. Water sacrificed itself into the fire (*i. e.* was evaporated), but seeing the distress of its friend, it (milk) became very anxious to throw itself into the fire (*i.e.* began to boil over); but it became pacified when water was sprinkled over it. Such is indeed the friendship of the good.

संस्कृत-भावार्थ—सज्जनानां मैत्री परस्परदुःखासहनशीला भवति । यथा दुग्धजलयोर्मैत्रीं पश्य—दुग्धेन आत्मगतोदकाय स्वकीयाः माधुर्यधावल्यादिकाः समस्ताः गुणाः दीयन्ते । अतः अपणार्थम् अग्न्युपरि निहितस्य दुग्धस्य सन्तपनं दृष्ट्वा मित्रसन्तापस्य असहनात् जलेन स्वशरीरं वह्नौ संशोष्यते । ततः दुग्धं मित्रस्य जलस्य विपत्ति दृष्ट्वा आत्मानं वह्नौ निक्षेप्तुकामं भवति । तदनन्तरं तेन जलेन युक्तं (सिक्तं) सत् दुग्धं प्रशान्तं भवति ।

टिप्पणी—(१) **क्षीरेण**—दूध । अनुक्ते कर्तरि तृतीया । (२) **आत्मगतोदकाय**—अपने में मिले हुए जल को । आत्मानं गतः इति आत्मगतः (द्वि० त०), तादृशम् उदकम् (कर्म० स०), तस्मै । सम्प्रदाने चतुर्थी । (३) **क्षीरोत्तापम्**—दूध का दुःख (उबाला जाना) । उद्√तप्+घञ् भावे=उत्तापः । क्षीरस्य उत्तापः (ष० त०), तम् । कर्मणि द्वितीया । (४) **कृशानौ**—अग्नि में । अधिकरणे सप्तमी । (५) **हुतः**—होम कर दिया, जला दिया । √हु (जुहोत्यादि)+क्त कर्मणि । (६) **मित्रापदम्**—मित्र की विपत्ति को । आ√पद्+क्विप् 'सम्पदादिभ्यः क्विप्' इत्यनेन=आपत् । मित्रस्य आपत् (ष० त०), ताम् । (७) **उन्मनः**—उद्विग्न । उद्गतं मनो यस्य तत् उन्मनस् (ब० स०) । दूध में जो उफान आती है, उसके लिए कवि उत्प्रेक्षा करता है कि दुध अपने मित्र जल को जलते देखकर उसके दुःख को सहन न कर सकने के कारण स्वयं आग में कूद पड़ना चाहता है । (८) **युक्तम्**—मिल जाने पर । √युज्+क्त । उफनाते हुए दूध में जल छिड़क देने से उफान हट जाती है । कवि कल्पना करता है कि पुनः मित्र जल के मिल जाने से दूध शान्त हो जाता है । (९) **मैत्री**—मित्रता । मित्रस्य भावः मैत्री मित्र+अण्+ङीप् । मित्र से ष्यञ् प्रत्यय करने पर मैत्र्यम् होता है ।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा तथा अर्थान्तरन्यास अलंकारों का संकर है ।

महान् की महत्ता—

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषां
इतश्च शरणार्थिनां शिखरिणां गणाः शेरते ।
इतोऽपि वडवानलः सह समस्तसंवर्तकैः
अहो ! विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥६८॥

अन्वयः—इतः केशवः स्वपिति, इतः तदीयद्विषाम् कुलम् (स्वपिति) इतः च शरणार्थिनाम् शिखरिणाम् गणाः शेरते, इतः अपि समस्तसंवर्तकैः सह वडवानलः (शेते)। अहो ! सिन्धोः वपुः विततम् ऊर्जितम् भरसहम् च अस्ति।

संस्कृत-व्याख्या—इतः—एकस्मिन् प्रदेशे, केशवः—विष्णुः, स्वपिति—शेते। इतः—अन्यस्मिन्—प्रदेशे, तदीयद्विषां—तदीयाः द्विषः विष्णोः शत्रवः कालकेयादयः तेषां, कुलं—समूहः, (स्वपिति)। इतः च—अन्यस्मिन् प्रदेशे, शरणार्थिनाम्—आश्रयकाङ्क्षिणां, शिखरिणां—पर्वतानां, गणाः—समूहाः, शेरते—अवतिष्ठन्ते। इतः अपि—अन्यस्मिन् देशे अपि, समस्तसंवर्तकैः—समस्तैः सकलैः संवर्तकैः प्रलयकालवर्षिमेघविशेषैः, सह—साकं, वडवानलः—औवाग्निः (शेते)। अहो—आश्चर्यम्, सिन्धोः—समुद्रस्य, वपुः—शरीरं, विततं—विस्तृतम्, ऊर्जितम्—ऊर्जस्वलम्, भरसहं—भारोद्वहनक्षमं, च, अस्ति।

अनुवाद—इधर विष्णु सोते, उधर उनके शत्रुगण, इधर शरणार्थी पर्वत-समूह सोते, उधर वड़वानल समस्त संवर्तक मेघों के सहित; अहो ! समुद्र का शरीर कितना विस्तृत, सबल और भार सहने वाला है।

Hither sleeps Lord Vishnu, thither the host of his enemies and here sleep the multitudes of mountains seeking shelter (into it), there again the submarine fire along with all the clouds down-pouring at the end of the creation. Oh ! how extensive, powerful and load-bearing is the body of the ocean.

संस्कृत-भावार्थ—सागरे एकतः विष्णुः स्वपिति अपरतश्च तदीयाः शत्रवः कालकेयादयः अवतिष्ठन्ते। एकस्मिन् प्रदेशे पर्वताः सन्ति अपरस्मिन् भागे पुष्करावर्तकनामकाः मेघाः वडवानलश्च विद्यन्ते। अहो ! केशवादिसकलभारधारण-समर्थं समुद्रस्य शरीरं कियद् विस्तृतम् ऊर्जस्वलं च वर्तते !

टिप्पणी—(१) केशवः—विष्णु। प्रशस्ताः केशाः सन्ति अस्य इति केशवः केश+व 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन। केशव कृष्ण का नाम है; किन्तु कृष्ण विष्णु के अवतार हैं, इसलिए यहाँ केशव विष्णु के लिए प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि विष्णु ही क्षीरसागर में सोते हैं न कि कृष्ण। 'क्षीरशायी विष्णुरूपः' इत्यमरः। 'अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः' (रघु० १३)। (२) तदीयद्विषाम्—उन (विष्णु) के शत्रुओं का (कुल=समूह)। तस्य इमे इति तदीयाः तत्+छ—ईय। तदीयाः

द्विषः (कर्म० स०), तेषाम् । √द्विष्+क्विप्=द्विषः । विष्णु के शत्रु कालकेय आदि समुद्र में छिप गये थे । देखिए—महाभारत—वनपर्व १०१ । (३) शरणार्थिनाम्—शरण चाहने वाले । जब इन्द्र पर्वतों के पंख काटने लगे ये तब बहुत-से पर्वत समुद्र में जाकर छिप गए थे । 'पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीध्राः' (रघु० १३, ३६) । शरणम् अर्थयन्ते इति शरणार्थिनः शरण√अर्थ+णिनि, उपपद स० तेषाम् । (४) शिखरिणाम्—पर्वतों के । शिखराणि सन्ति एषाम् इति शिखरिणः शिखर+इनि, तेषाम् । (५) समस्तसंवर्तकैः—सम्पूर्ण संवर्तक आदि मेघों के साथ । ये मेघ प्रलयकाल में संसार को जल से आप्लावित करने वाले माने जाते हैं । समस्ताः संवर्तकाः (कर्म० स०), तैः । 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति सूत्रेण तृतीया । (६) वडवानलः—वडवाग्नि । यह अग्नि समुद्र के जल को जलाता है (देखिए नीचे विशेष) । यह हिन्द महासागर के दक्षिणी भाग में बहुधा दिखाई पड़ता है—'गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि । अविन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥ (रघु० १३।३) । (७) भरसहस्य—भार सहन करने वाला । सहते इति सहम् √सह+अच् पचादित्वात्, भरस्य सहम् (प० त०) । समुद्र का शरीर कितना विस्तृत, सबल एवं भारसहिष्णु है यह इसी से पता चलता है कि प्रलय के पश्चात् संसार को अपने अन्दर लीन करके विष्णु इसमें शयन करते हैं । कालकेय आदि राक्षस, वडवाग्नि तथा बड़े-बड़े पर्वतों को इसने अपने भीतर धारण कर रखा है ।

इस श्लोक में अधिक अलंकार और अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार हैं । इसमें पृथ्वी छन्द है ।

विशेष—मत्स्यपुराण के अनुसार एक बार और्वनामक मुनि अग्नि में अपना ऊरु (जांघ) डालकर कुशा से मंथन करने लगे । अनन्तर उनके ऊरु से अग्नि उत्पन्न हुआ जो संसार को जलाने लगा । जब ब्रह्मा ने यह देखा तो मुनि को किसी तरह शान्त किया और उस अग्नि को समुद्र-गर्भ-स्थित वडवा (घोड़ी) के मुंह में स्थापित करके उसके भक्ष्य के लिए समुद्र का जल निर्दिष्ट कर दिया ।

जन्म-धारण की सफलता इसी में है कि कोई विशेष कार्य करे—

जातः कूर्मः स एकः पृथुभुवनभरायार्पितं येन पृष्ठं
श्लाघ्यं जन्म ध्रुवस्य भ्रमति नियमितं यत्र तेजस्विचक्रम् ।

संजातव्यर्थपक्षाः परहितकरणे नोपरिष्टान्न चाधो
ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवदपरे जन्तवो जातनष्टाः ॥६६॥

अन्वयः—एकः सः कूर्मः (एव) जातः येन पृथुभुवनभराय पृष्ठम् अर्पितम् । ध्रुवस्य जन्म श्लाघ्यम् यत्र तेजस्विचक्रम् नियमितम् भ्रमति । परहितकरणे संजातव्यर्थपक्षाः अपरे जन्तवः उपरिष्टात् न, अधः च न (वर्तमाना भवन्ति) ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवत् जातनष्टाः भवन्ति ।

संस्कृत-व्याख्या—एकः—केवलः, सः—प्रसिद्धः, कूर्मः—कच्छपः (विष्णोः अवतारः) (एव) जातः—उत्पन्नः, येन—कूर्मेण, पृथुभुवनभराय—पृथु महत् यत् भुवनं जगत् तस्य भारः तस्मै, पृष्ठं—निजकूर्परतलम्, अर्पितम्—दत्तम् । ध्रुवस्य-औत्तानपादेः, जन्म—जननं, श्लाघ्यं—प्रशंसनीयं, यत्र—यस्मिन् ध्रुवे, तेजस्विचक्रं—तेजस्विनां ग्रहनक्षत्रादीनां चक्रं मण्डलं, नियमितं—नियतरूपेण, भ्रमति—पर्यावर्तते । परहितकरणे—परोपकाराचरणविषये, संजातव्यर्थपक्षाः—असमर्थपक्षाः, अपरे—अन्ये, जन्तवः—प्राणिनः, उपरिष्टात् न—उपरिभागेऽपि वर्तमानाः न भवन्ति इत्यर्थः, अधः—नीचैः, च न (वर्तमाना भवन्ति इत्यर्थः), (किन्तु) ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवत्—ब्रह्माण्डम् एव उदुम्बरम् तस्य अन्तः मध्ये ये मशकाः कीटाः तद्वत् जातनष्टाः भवन्ति—उत्पन्ना भूत्वा म्रियन्ते ।

अनुवाद—उसी एक कच्छप-देव का जन्म लेना सफल है जिसने पृथ्वी के भार को ढोने के लिये अपनी पीठ अर्पण कर दी । ध्रुव का जन्म लेना प्रशंसनीय है जहाँ यह ताराग्रह-समूह नियमपूर्वक घूमता रहता है । और सब दूसरे प्राणधारी, जो परोपकार करने में असमर्थ हों तथा न तो ऊपर गये और न नीचे, वे इस जगत् में जनमने के बाद उसी तरह व्यर्थ मर जाते हैं जैसे गूलर के कीड़े ।

That very tortoise alone was (really) born who offered his back to bear the burden of the vast world. Praiseworthy was the birth of Dhruva, round whom the cluster of luminaries revolves; other animals being unable to do good to others are neither in upper regions nor in lower regions. They die after they are born like the worms inside the universe like fig-fruit.

संस्कृत-भावार्थ—एकः कच्छप एव जन्मलाभवान् येन भुवनभारवहनार्थं स्वपृष्ठम् अर्पितम्; ध्रुवस्यापि जन्म सार्थकं यस्मिन् ग्रहनक्षत्रादयो भ्रमन्ति, पर

हित-साधने असमर्थाः अन्ये जन्तवस्तु उदुम्बरकीटवत् जातनष्टा भवन्ति। यतः न किमपि तैः साधितम्, अतस्तेषां जन्म निरर्थकम्।

टिप्पणी—(१) **पृथुभुवनभराय**—विशाल पृथ्वी के भार (को ढोने) के लिए। पृथु भुवनम् (कर्म० स०), तस्य भरः (प० त०), तं वोढुम् इति 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति सूत्रेण चतुर्थी। हिन्दुओं का विश्वास है कि विष्णु भगवान् कच्छप अवतार धारण करके अपनी पीठ पर पृथ्वी का भार वहन कर रहे हैं। (२) **तेजस्विचक्रम्**—ग्रहों एवं नक्षत्रों का समूह अथवा शिशुमार-मंडल। तेजस्विनां चक्रम् (प० त०)। (३) **नियमितम्**—नियमपूर्वक। नियम+णिच् (नामधातु)+क्त कर्मणि=नियमितम् तत् यथा स्यात् तथा क्रियाविशेषणे द्वितीया। (४) **परहितकरणे**—परोपकार करने में। परेषां हितानि (प० त०), तेषां करणम् (ष० त०), तस्मिन्। (५) **संजातव्यर्थपक्षाः**—जिनका पक्षग्रहण व्यर्थ हो गया हो अर्थात् असमर्थ। व्यर्थः संजातः इति संजातव्यर्थः (सुप्सुपा स०), तादृशः पक्षः येषां ते संजातव्यर्थपक्षाः (ब० स०)। इसका सम्बन्ध 'पर-हितकरणे' से है, इसलिए 'सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः' है। अथवा व्यर्थः पक्षः येषां ते व्यर्थपक्षाः (ब० स०), संजाताः व्यर्थपक्षाः (कर्म० स०)। यहाँ संजात शब्द अनावश्यक है, इसलिए अविकपदजन्य दोष है। (६) **ब्रह्माण्डो-दुम्बरान्तर्मशकवत्**—ब्रह्माण्ड रूपी गूलर के कीड़ों की भाँति। उदुम्बरवृक्षस्य फलम् इति उदुम्बर+अण्, तस्य लुक् 'फले लुक्' इत्यनेन। ब्रह्माण्डम् एव उदुम्बरम् (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकरूप स०), तस्य अन्तः (प० त०), तत्र मशकाः ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकाः (सुप्सुपा स०), तद्वत् 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययः। (७) **जातनष्टाः**—जन्म लेकर मरते हैं। पूर्वं जाताः पश्चात् नष्टाः इति जातनष्टाः स्नानानुलिप्तवत् तत्पुरुषसमासः 'पूर्वकालैकसर्व-जरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' इत्यनेन। गूलर के फल के कीडे उसके भीतर जन्म लेते हैं और मर जाते हैं, उसी तरह जो व्यक्ति दूसरे की भलाई के लिए कोई काम नहीं करता है वह व्यर्थ जन्म लेता है और मरता है।

इस श्लोक में रूपक और उपमा अलंकारों का संकर है। इसमें स्रग्धरा छन्द है। छन्द का लक्षण—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्'।

सज्जनों के लक्षण

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम् ।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय प्रश्रयं
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम् ।।७०।।

अन्वयः—तृष्णाम् छिन्धि, क्षमाम् भज, मदम् जहि, पापे रतिम् मा कृथाः, सत्यम् ब्रूहि, साधुपदवीम् अनुयाहि, विद्वज्जनम् सेवस्व, मान्यान् मानय, विद्विषः अपि अनुनय, प्रश्रयम् प्रख्यापय, कीर्तिम् पालय, दुःखिते दयाम् कुरु, एतत् सताम् लक्षणम् (अस्ति)।

संस्कृत-व्याख्या—तृष्णाम्—अप्राप्यवस्तुलोभं, छिन्धि—कर्तय, क्षमां—सहिष्णुताम्, भज—सेवस्व, मदं—गर्वं, जहि—त्यज, पापे—दुष्कृते, रतिम्—अनुरागं, मा कृथाः—मा कार्षीः, सत्यं—यथार्थं, ब्रूहि—वद, साधुपदवीं—सन्मार्गम्, अनुयाहि—अनुसर, विद्वज्जनं—पण्डितमण्डलं, सेवस्व—शुश्रूषस्व, मान्यान्—पूज्यान्, मानय—पूजय, विद्विषः अपि—शत्रून् अपि, अनुनय—प्रसादय, प्रश्रयं—विनयं, प्रख्यापय—प्रकटय, कीर्तिं—यशः, पालय—रक्ष, दुःखिते—दुःखभाजि जने, दयां—करुणां, कुरु—विधेहि, एतत्—इदं (सर्वं), सतां—सज्जनानां, लक्षणं—चिह्नम् (अस्ति)।

अनुवाद—लालच छोड़ो, क्षमा करो, घमंड छोड़ो, पाप में मन न लगाओ, सत्य बोलो, सन्त जन जिस मार्ग से चलें उसी से तुम भी चलो, विद्वानों की सेवा करो, पूजनीय लोगों का मान करो, शत्रुओं को भी मिलाये रखो, अपनी नम्रता फैलाओ, अपनी कीर्ति का पालन करो, दुःखियों पर दया दर्शाओ; यही सज्जनों का लोकव्यवहार है।

Curb your aspiration, have forbearance, shake off pride, do not be addicted to sin, speak truly, follow the footsteps of the good, serve the learned, respect the respectable, win over even your enemies, show modesty, preserve fame, be kind to the distressed, this is the characteristic of the gentlemen.

संस्कृत-भावार्थ—यः सज्जनः सः तृष्णां छिनत्ति, क्षमां भजते, गर्वं त्यजति, पापे रतिं न कुरुते, सत्यं वक्ति, सन्मार्गम् अनुसरति, विद्वज्जनं सेवते, पूज्यान्

पूजयति, शत्रूनपि प्रसादयति, विनयं प्रकटयति, यशः पालयति तथा दुःखभाजि जने दयां विधत्ते । इयमेव सज्जनस्य परिभाषा वर्तते ।

टिप्पणी—(१) तृष्णाम्—अनुचित स्पृहा या लोभ । √तृष्+न+टाप् । (२) छिन्धि—काटो । √छिद्+लोट्—सिप् । छिद् धातु रुधादिगणीय और उभयपदी है । इसके रूप—छिनत्ति, छित्तः, छिन्दन्ति । (३) पापे—अत्र विषयाधिकरणे सप्तमी । (४) मा कृथाः—मत करो । √कृ+लुङ् 'माङि लुङ्' इत्यनेन, 'न माङ्योगे' इति सूत्रेण अडागमनिषेधः । (५) साधुपदवीम्—सज्जनों के मार्ग का । साधूनां पदवी (ष० त०), ताम् । (६) विद्वज्जनम्—विद्वानों की । विद्वान् एव जनः (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकरूप स०), तम् । (७) प्रश्रयं प्रख्यापय—विनय प्रकट करो । प्र√श्रि+अच्=प्रश्रयः, तम् । यहाँ 'प्रच्छादय स्वान् गुणान्' पाठभेद मिलता है । अर्थ होगा—'अपने गुणों को छिपाओ । (८) दुःखिते—दुःखी प्राणी पर । दुःखं संजातमस्य इति दुःख+इतच् 'तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्' इत्यनेन=दुःखितः, तस्मिन् । विषयाधिकरणे सप्तमी । (९) एतत्—अत्र सामान्योपक्रमात् नपुंसकस्य एकशेषः 'शुक्लः पटः, शुक्ला शाटी, शुक्लं वस्त्रम्, तदिदं शुक्लम्' इति वत् ।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

महापुरुष प्रायः दुर्लभ होते हैं—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥७१॥

अन्वयः—मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णाः त्रिभुवनम् उपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः, परगुणपरमाणून् नित्यम् पर्वतीकृत्य निजहृदि विकसन्तः सन्तः कियन्तः (एव) सन्ति ।

संस्कृत-व्याख्या—मनसि—चित्ते, वचसि—वाण्यां, काये—शरीरे पुण्यपीयूषपूर्णाः—पुण्यं सुकृतम् एव पीयूषम् अमृतम् तेन पूर्णाः सम्पन्नाः, त्रिभुवनं—त्रिलोकीम्, उपकारश्रेणिभिः—हिताचरणपरम्पराभिः, प्रीणयन्तः—सन्तोषयन्तः,

परगुणपरमाणून्—परेषां गुणाः तेषां परमाणून् अल्पगुणानपीत्यर्थः, नित्यं—सततं, पर्वतीकृत्य—शैलानिव महत्तरान् कृत्वा, निजहृदि—स्वकीयेऽन्तःकरणे, विकसन्तः—हर्षानुभवं कुर्वन्तः, सन्तः—सज्जनाः, कियन्तः—कियत्संख्याकाः, सन्ति—विलसन्ति ? अत्यल्पा एव वर्तन्ते इत्यर्थः ।

अनुवाद—मन, वचन और शरीर द्वारा पुण्यरूपी अमृत से भरे हुए, अपने उपकारों द्वारा तीनों लोकों को प्रसन्न रखने वाले, दूसरों के परमाणु जैसे छोटे से छोटे गुणों को बढ़ाकर पहाड़ के ऐसा सर्वदा बड़ा दिखलाने वाले तथा अपने मन में सन्तुष्ट रहने वाले सन्त जन संसार में कितने हैं ।

How many good men are there, who. full of the ambrosia of virtues in thought, word and action, and delighting the three worlds with the series of their acts of beneficence, bloom (rejoice) in their heart in ever making mountain of the minutest merits of others.

संस्कृत-भावार्थ—मनसा वाचा कर्मणा च सर्वेषामेव प्राणिनामुपकारकारिणः सदा परेषां सूक्ष्मानपि गुणान् विशदीकृत्य हृदि धारयन्तः सज्जनाः जगति अङ्गुलिगणनीया एव भवन्ति ।

टिप्पणी—(१) मनसि वचसि काये—अत्र अधिकरणे सप्तमी । (२) पुण्यपीयूषपूर्णाः—पुण्य रूप अमृत से भरे हुए । पुण्यम् एव पीयूषम् (मयूरव्यंसकादित्वात् स०), तेन पूर्णाः (तृ० त०) । (३) त्रिभुवनम—तीनों लोक को । त्रयाणां भुवनानां समाहारः इति त्रिभुवनम् 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन (समाहारद्विगु स०) । (४) उपकारश्रेणिभिः—उपकारों की पंक्ति से । उपकाराणां श्रेणयः (ष० त०), ताभिः । (५) परगुणपरमाणून्—दूसरों के परमाणु के समान छोटे से छोटे गुणों को । गुणानां परमाणवः (ष० त०), परेषां गुणपरमाणवः (ष० त०), तान् । कर्मणि द्वितीया । (६) पर्वतीकृत्य—पर्वत के समान बढ़ा-चढ़ाकर । अपर्वतान् पर्वतान् कृत्वा इति पर्वत—च्वि, ईत्व√कृ+क्त्वा—ल्यप् । यहाँ 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' सूत्र से गतिसंज्ञा होने पर 'कुगतिप्रादयः' से समास होने के कारण क्त्वा के स्थान में ल्यप् आदेश होता है । (७) सन्तः—सज्जन व्यक्ति । √अस्—लट्—शतृ । यहाँ संज्ञा की तरह प्रयुक्त हुआ है—'विशेषणमात्रप्रयोगः विशेष्यप्रतिपत्तौ' । (८) कियन्तः—कितने । किं परिमाण-

मस्य इति किम्+वतुप्, वस्य घः, घस्य इयादेशः, किमः की आदेशः, 'यस्येति च' इत्यनेन ईकारस्य लोपः ।

इस श्लोक में मालिनी छन्द है । मालिनी का लक्षण 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' ।

अथ धैर्यपद्धतिः

धीर पुरुष लक्ष्य को बिना प्राप्त किये विश्राम नहीं लेते हैं—

रत्नैर्महाब्धेस्तुतुषुर्न देवा न भेजिरे भीमविषेण भीतिम् ।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ॥७२॥

अन्वयः—देवाः महाब्धेः रत्नैः न तुतुषुः, भीमविषेण भीतिम् न भेजिरे, सुधाम् विना विरामम् न प्रययुः, धीराः निश्चितार्थात् न विरमन्ति ।

संस्कृत-व्याख्या—देवाः—सुराः, महाब्धेः—क्षीरसागरस्य, रत्नैः—कौस्तुभादिमणिभिः, न तुतुषुः—न सन्तोषं प्रापुः, भीमविषेण—भयङ्करगरलेन, भीतिं—भयं, न भेजिरे—न प्रापुः, सुधां—पीयूषं, विना—ऋते, विरामं—(स्वकार्याद्) विरतिं, न प्रययुः—न गताः । धीराः—मनस्विनः, निश्चितार्थात्—निश्चितः प्रतिज्ञातः यः अर्थः लक्ष्यं तस्मात्, न विरमन्ति—न विश्रामं प्राप्नुवन्ति ।

अनुवाद—समुद्र के रत्नों को मथकर निकाल कर देवता लोग संतुष्ट न रहे, भयानक हलाहल को पाकर भी डर कर बैठ न गये, अमृत को पाये बिना वे लोग विश्रान्त न हुए—उन्हें चैन न मिला । धीर पुरुष अपने निश्चित उद्देश्य को पूरा किये बिना कभी नहीं रहते, बिना पूरा किये नहीं रुकते ।

Gods were not satisfied with the gems of the ocean: nor were they terrified with (its) deadly poison, they did not take rest until they obtained ambrosia. Firm minded people do not swerve (or desist) from their fixed purpose.

संस्कृत-भावार्थ—देवाः सुधालब्धये सागरं ममन्थुः, तत्र मध्य एव महार्हाणि रत्नानि आविर्बभूवुर्भयंकरं गरलं च; किन्तु देवाः यावत्सुधां न लेभिरे तावन्न रत्नैस्तुतुषुर्नच गरलेन बिभ्युः । धीराणां स्वभावोऽयं यत्ते आफलोदयात् प्रयतन्ते एव, न फलोत्पत्तिं यावद् विश्रामं लभन्ते ।

टिप्पणी—(१) **देवाः**—देवता लोग। दिव्यन्ति इति देवाः√दिव्+अच् पचादित्वात्। (२) **महाब्धेः**—महासमुद्र, क्षीरसागर के। आपः धीयन्ते अस्मिन् इति अब्धिः अप्√धा+कि 'कर्मण्यधिकरणे च' इत्यनेन। महान् अब्धिः महाब्धिः (कर्म० स०), तस्य। (३) **रत्नैः**—(कौस्तुभ आदि चौदह) रत्नों से। यहाँ रत्न का तात्पर्य कौस्तुभमणि तथा उच्चैःश्रवा, ऐरावत, कल्पवृक्ष आदि श्रेष्ठ-जातीय वस्तुओं से भी है। 'रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपि मणावपि नपुंसकम्' इति मेदिनी। 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमिति कथ्यते'। (४) **भीमविषेण**—भयंकर विष, कालकूट विष से। भीमं विषम् (कर्म० स०), तेन। हेतौ तृतीया। यहाँ 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' सूत्र से पञ्चमी होनी चाहिए, किन्तु हेतुत्वमात्र की विवक्षा में तृतीया ही हुई। (५) **सुधाम्**—अमृत के (विना)। अत्र 'पृथग्-विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्' इति सूत्रेण विनायोगे द्वितीया।(६) **विरामं न प्रययुः**—विरत नहीं हुए। वि√रम्+घञ=विराम। प्र√या+लिट्—उस्=प्रययुः। (७) **निश्चितार्थात्**—निश्चित प्रयोजन से। निश्चितः अर्थः (कर्म० स०), तस्मात्। अत्र 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' इति वार्तिकेन पञ्चमी। (८)**न विरमन्ति**—विरत नहीं होते हैं। √रम् धातु आत्मनेपदी है, किन्तु वि आङ तथा परि उपसर्ग के साथ यह परस्मैपदी हो जाती है। इसका नियामक सूत्र है—'व्याङ्परिभ्यो रमः'।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार है और उपजाति छन्द है।

विशेष—समुद्र-मन्थन से जो चौदह प्रकार के रत्न निकले थे, वे ये हैं—'लक्ष्मीः कौस्तुभपारिजातकसुरा धन्वन्तरिश्चन्द्रमा, गावः कामदुधाः सुरेश्वरगजो रम्भादिदेवाङ्गनाः। अश्वः सप्तमुखो विषं हरिधनुः शङ्खोऽमृतं चाम्बुधे, रत्नानीह चतुर्दश प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम्॥'

अधम-मध्यम और उत्तम का अन्तर—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्ननिहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैर्मुहुर्मुहुरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥७३॥

अन्वयः—नीचैः विघ्नभयेन न प्रारभ्यते खलु, मध्याः प्रारभ्य विघ्ननिहताः विरमन्ति, उत्तमजनाः विघ्नैः मुहुः मुहुः प्रतिहन्यमानाः अपि प्रारब्धम् (कर्म) न परित्यजन्ति ।

संस्कृत-व्याख्या—नीचैः—अधमैः (जनैः), विघ्नभयेन—विघ्नेभ्यः अन्तरायेभ्यः यत् भयं तेन हेतुना, न प्रारभ्यते—कार्यारम्भो न विधीयते, खलु—निश्चयेन । मध्याः—मध्यमाः (जनाः), प्रारभ्य—कार्यमुपक्रम्य, विघ्ननिहताः—विघ्नैः प्रत्यूहैः निहताः प्रतिहताः (सन्तः), विरमन्ति—विरताः भवन्ति । उत्तमजनाः—उत्कृष्टाः लोकाः, विघ्नैः—अन्तरायैः, मुहुः मुहुः—वारं वारं, प्रतिहन्यमानाः—समाक्रान्ताः, अपि, प्रारब्धम्—उपक्रान्तं (कर्म), न परित्यजन्ति—न विसृजन्ति ।

अनुवाद—विघ्न के भय से नीच पुरुष कार्य में हाथ ही नहीं लगाते, मध्यम वर्ग के लोग कार्य आरम्भ करने के बाद विघ्न आ जाने पर झटपट काम से हाथ खींच लेते हैं, परन्तु उत्तम वर्ग के मनुष्य विघ्नों के बार-बार आघात करने पर भी अपने शुरू किये काम को नहीं छोड़ते (समाप्त ही कर दिखाते हैं चाहे विघ्न-बाधायें क्यों न आ पड़ें) ।

For fear of obstacles, the low class people begin nothing at all. The middle class people begin but desist when obstructed by obstacles, while the first class people, though repelled repeatedly by obstructions, do not give up what they have (once) begun.

संस्कृत-भावार्थ—उत्तमप्रकृतिर्मनस्वी जनः यत् कार्यं प्रारभते तत् विघ्नान-विगणय्य समाप्तिमेव नयति, मध्यमश्च कार्यारम्भं करोति किन्तु विघ्नैर्भग्नोद्यमः सन् मध्य एव कार्यं जहाति, अधमस्तु विघ्नाः भविष्यन्तीति शङ्कया कार्यारम्भमेव न करोति—इति त्रयो भेदा नराणाम् ।

टिप्पणी—(१) नीचैः—नीच (अधम प्रकृति वाले) जनों द्वारा । अनुक्ते कर्तरि तृतीया । (२) विघ्नभयेन—विघ्नों के भय से वि√हन्+क 'मूलविभुजादिभ्यः कः' इत्यनेन=विघ्नः । √भी+अच्=भयम् । विघ्नेभ्यः भयम् (पं० त०) । (३) मध्याः—बीच के (जो न उत्तम है न अधम वे) लोग । 'नीचैः' और 'मध्याः' ये दोनों विशेषण यहाँ विशेष्य रूप में प्रयुक्त हैं । 'विशेषणमात्रप्रयोगः विशेष्यप्रतिपत्तौ' इति वामनः (४) उत्तमजनाः—श्रेष्ठ व्यक्ति । उत्तमाः

जनाः (कर्म० स०)। उद्+तमप् 'अतिशायने तमविष्ठनौ' इत्यनेन। (५) प्रतिहन्यमानाः—पीडित होने पर भी। प्रति√हन्+लट् कर्मणि—शानच्, यक्। (६) प्रारब्धम्—प्रारंभ किये हुए कार्य को। प्र—आ√रम्+क्त कर्मणि। यह अनुक्त 'कार्यम्' का विशेषण है। यहाँ 'मुहुर्मुहुरपि' की जगह 'पुनः पुनरपि' तथा 'उत्तमजनाः' के बदले 'उत्तमगुणाः' पाठभेद मिलते हैं।

इस श्लोक में उपमा, व्यतिरेक तथा अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार हैं और वसन्ततिलका छन्द है।

विशेष—यह श्लोक मुद्राराक्षस के द्वितीय अंक में आया है।

मनस्वी व्यक्ति कार्य-सिद्धि के लिए सुख-दुःख नहीं गिनते—

क्वचित्पृथ्वीशय्यः क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥७४॥

अन्वयः—कार्यार्थी मनस्वी न दुःखम्, न सुखम् गणयति।

संस्कृत-व्याख्या—क्वचित्—कुत्रचित्, पृथ्वीशय्यः—पृथ्वी शय्या यस्य तादृशः, क्वचिदपि च, पर्यङ्कशयनः—पर्यङ्के महार्हशय्यायां शयनं निद्रा यस्य तादृशः क्वचित्, शाकाहारः—शाकमात्रभोजी, क्वचिदपि च, शाल्योदनरुचिः—तण्डुलभक्तप्रियः, क्वचित्, कन्थाधारी—शीर्णजीर्णवस्त्रधारी, क्वचिदपि च, दिव्याम्बरधरः—चीनांशुकधारी, कार्यार्थी—कार्यसाधनाभिलाषी, मनस्वी—धीरः, न दुःखं—न क्लेशं, न सुखं—न आनन्दं, गणयति—अपेक्षते।

अनुवाद—कभी पृथ्वी पर सोते, कभी पलँग पर, कभी साग खाकर दिन काटते, कभी बढ़िया चावल का भात खाकर, कभी फटा-पुराना चिथड़ा पहनते और कभी बढ़िया रेशमी वस्त्र। यों अपना काम पूरा करने वाले मनस्वी लोग सुख-दुःख की परवाह नहीं करते।

Sometimes sleeping on ground and sometimes on a couch; sometimes living on (simple) vegetables and sometimes tasting rice of Sali paddy, sometimes wearing rags and sometimes sup-

erfine clothes, a high-minded man, seeking to Serve his purpose does not care for Comforts or Sufferings.

संस्कृत-भावार्थ—कार्यसाधनविधौ दृढेन मनसा प्रवृत्तः पुरुषः सुखं दुःखं वा न पश्यति। स तु कार्यसिद्धये देशकालानुसारं कण्टकाकीर्णायां भुवि स्वपिति महार्हे पर्यङ्केऽपि, सरसं नीरसं वा वस्तु भुनक्ति, जीर्णं बहुमूल्यं वा वस्त्रं परिदधाति। इत्थं धीरः सुखदुःखयोः समानावस्थया एव कार्यसाधनपरो भवति।

टिप्पणी—(१) **क्वचित्**—कहीं या किसी समय। (२) **पृथ्वीशय्यः**—पृथ्वी ही जिसकी शय्या है, भूमि पर सोने वाला। शय्यते अस्याम् इति शय्या √शी+क्यप्+टाप्। पृथ्वी एव शय्या यस्य सः (ब० स०)। (३) **पर्यङ्क-शयनः**—पलंग पर सोने वाला। √शी+ल्युट्=शयनम्। पर्यङ्के शयनं यस्य सः (ब० स०)। (४) **शाकाहारः**—शाक खाने वाला, शाक ही भोजन करता है। आ√हृ+घञ् भावे=आहारः। शाकः आहारो यस्य सः (ब० स०)। (५) **शाल्योदनरुचिः**—चावल का भात खाने वाला अर्थात् स्वादिष्ठान्नभोजी। शाल्याः ओदनः (ष० त०), शाल्योदने रुचिः यस्य सः (ब० स०)। (६) **कन्थाधारी**—गुदड़ी धारण करने वाला। कन्थाः धारयति इति कन्था√धृ+णिनि कर्तरि (उपपद स०)। (७) **दिव्याम्बरधरः**—दिव्य (बहुमूल्य) वस्त्र पहनने वाला। दिवि भवम् दिव्यम् दिव्+यत्। धरतीति धरः√धृ+अच् पचादित्वात्। दिव्यम् अम्बरम् (कर्म० स०), तस्य धरः (ष० त०)। (८) **कार्यार्थी**—कार्य-सिद्धि चाहने वाला। कार्यम् अर्थयते इति कार्य√अर्थ+णिनि कर्तरि, उपपद स०। अर्थः अभिलाषः तद्वान् इति अर्थ+इनि अस्त्यर्थे=अर्थी=अभिलाषवान्। कार्येण अर्थी इति कार्यार्थी (सुप्सुपा स०)। यहाँ 'कृद्वृत्तेः तद्धितवृत्तिः बलीयसी' इस महाभाष्य के प्रमाण से दूसरी व्युत्पत्ति अधिक समीचीन है।

इस श्लोक में शिखरिणी छन्द है।

धीर पुरुष न्याय-मार्ग से विचलित नहीं होते—

> निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
> लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
> अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
> न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥८१॥

अन्वयः—नीतिनिपुणाः निन्दन्तु यदि वा, स्तुवन्तु । लक्ष्मीः समाविशतु, वा, यथेष्टम् गच्छतु अद्य एव मरणम् अस्तु वा युगान्तरे अस्तु, धीराः न्याय्यात् पथः पदम् न प्रविचलन्ति ।

संस्कृत-व्याख्या—नीतिनिपुणाः—नयविशारदाः, निन्दन्तु—दूषयन्तु, यदि वा-अथवा, स्तुवन्तु—प्रशंसन्तु, लक्ष्मीः—श्रीः, समाविशतु—आगच्छतु, वा—उत, यथेष्टं—यथेच्छं, गच्छतु—अपसरतु, अद्य एव—अस्मिन् एव दिने, मरणं—मृत्युः, अस्तु, वा—उत, युगान्तरे—कल्पान्तरे (अस्तु), धीराः—धैर्यशालिनः, न्याय्यात्—न्याययुक्तात्, पथः—मार्गात्, पद—पदविन्यासमात्रम् न प्रविचलन्ति—न त्रस्यन्ति ।

अनुवाद—नीतिज्ञ लोग निन्दा करें या प्रशंसा; लक्ष्मी इच्छानुसार आये या चली जाय, आज ही मरण हो या युगों के बाद—परन्तु वीर पुरुष न्याय के मार्ग से कभी विचलित नहीं होते ।

The firm minded people do not swerve even a step from the just path, whether men well versed in the conduct of life's affairs may praise or blame, whether goddess of fortune may come in or go away at her sweet will or whether death may occur just to-day or after an age.

संस्कृत-भावार्थ—मनस्विजनाः केनचित् कृताया निन्दायाः स्तुतेर्वा अपेक्षां न कुर्वन्ति, लक्ष्मीर्लभ्यते वा न लभ्यते इत्यपि नापेक्षन्ते, मृत्युमप्युपेक्षन्ते; किन्तु कदापि न्यायोचितात्मार्गात् पराङ्मुखा न भवन्ति तदेव कुर्वन्ति यन्न्यायोचितं भवति ।

टिप्पणी—(१) नीतिनिपुणाः—नीति में पारंगत । नीतौ निपुणाः (स० त०) । (२) लक्ष्मीः—संपत्ति । लक्षयति इति लक्ष्मीः √लक्ष्+ई, मुट् आगम 'लक्षेर्मुट् च' इत्यनेन । (३) यथेष्टम्—इच्छानुसार । √इष्+क्त भावे=इष्टम् । इष्टम् अनतिक्रम्य वर्तते इति यथेष्टम् (अव्य० स०) । (४) युगान्तरे—दूसरे युग में । अन्यः युगः युगान्तरम् (मयूरव्यंसकादित्वात् नित्यसमासः), तस्मिन् । (५) धीरः—मनस्वी व्यक्ति । धियं बुद्धिम् ईरयन्ति सर्वतः प्रवर्तयन्ति इति धी √ईर्+अच् । (६) न्याय्यात्—न्याययुक्त, समीचीन । न्यायात् अनपेतः न्याय्यः न्याय+यत् 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इत्यनेन । नि√अय्+घञ् भावे=न्यायः ।

(७) पदम्—पग भर भी । अत्र 'अत्यन्तसंयोगे द्वितीया' 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इत्यनेन ।

इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है ।

धीर पुरुष की महिमा—

कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः ।
कर्षन्ति भूरि विषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥७६॥

अन्वयः—यस्य चित्तम् कान्ताकटाक्षविशिखाः न लुनन्ति, कोपकृशानुतापः न दहति, भूरिविषयाः लोभपाशैः च न कर्षन्ति, स धीरः कृत्स्नम् इदम् लोकत्रयम् जयति ।

संस्कृत-व्याख्या—यस्य—धीरस्य, चित्तं—चेतः, कान्ताकटाक्षविशिखाः—कान्तायाः सुन्दर्याः कटाक्षाः अपाङ्गवीक्षितानि त एव विशिखाः बाणाः, न लुनन्ति—न छिन्दन्ति न संमोहयन्तीति यावत्, कोपकृशानुतापः—कोपः क्रोधः एव कृशानुः अग्निः तस्य तापः उष्णता, न दहति—न भस्मसात्करोति, भूरिविषयाः—भूरयः बहुलाः विषयाः इन्द्रियार्थाः, लोभपाशैः—लोभाः एव पाशाः वागुराः तैः, च, न कर्षन्ति—न आकर्षन्ति स्वायत्तीकुर्वन्तीति यावत्, सः—तादृशः, धीरः—धैर्यशाली जनः, कृत्स्नम्—अखिलम्, लोकत्रयं—भुवनत्रयं, जयति—आत्माधीनं करोति ।

अनुवाद—जिसके मन को सुन्दरी रमणी का कटाक्ष रूपी शर नहीं वेध सकता, और क्रोध रूपी अग्नि का ताप नहीं जला सकता तथा विविध प्रकार की सांसारिक विषय-वासनायें अपने लोभपाशों द्वारा आकृष्ट नहीं कर सकती, वही धीर पुरुष इस सम्पूर्ण त्रिभुवन को जीतता है ।

That equanimous minded man conquers the triple world, whose mind, the arrows of side long glances of lovely woman do not pierce, the heat of the fire of anger does not burn and the numerous sensual objects do not attract with their snares of temptations.

संस्कृत-भावार्थ—यस्य चित्तं कामस्य क्रोधस्य लोभस्य च वशीभूतं न भवति स एव धीरः जगद्विजयी अर्थात् तस्य न किञ्चिदपि असाध्यम् ।

टिप्पणी—(१) कान्ताकटाक्षविशिखाः—कामिनी के कटाक्ष रूपी बाण। कान्तायाः कटाक्षाः (ष० त०), त एव विशिखाः इति कान्ताकटाक्षविशिखाः (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकरूप स०) । (२) कोपकृशानुतापः—क्रोध रूपी अग्नि का दाह। कोपः एव कृशानुः (मयू० रूपकरूप स०), तस्य तापः (ष० त०)। (३) भूरिविषयः—बहुत-से उपभोग के पदार्थ। भूरयः विषयाः (कर्म० स०)। (४) लोभपाशैः—लोभ रूप जालों से। लोभाः एव पाशाः (मयू० रूपकरूप स०), तैः। करणे तृतीया । (५) कृत्स्नम्—सम्पूर्ण । (६) लोकत्रयम्—तीनों लोक को। त्रि+तयप् तस्य अयजादेशः=त्रयम् । लोकानां त्रयम् लोकत्रयम् (ष० त०)।

इस श्लोक में 'कर्षन्ति' की जगह 'तर्पन्ति' तथा 'लोभपाशैः' के स्थान में 'लोभपाशाः' पाठभेद मिलते हैं। इसमें वसन्ततिलका छन्द है ।

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्ते-
र्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्ने-
र्नाधः शिखा यान्ति कदाचिदेव ॥७७॥

अन्वयः—कदर्थितस्य अपि धैर्यवृत्तेः (जनस्य) धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् न शक्यते हि। अधोमुखस्य कृतस्य अपि वह्नेः शिखाः कदाचित् एव अधः न यान्ति ।

संस्कृत-व्याख्या—कदर्थितस्य अपि—क्लेशितस्य अपि, धैर्यवृत्तेः—धीराचारस्य (जनस्य), धैर्यगुणः—धृतिनामविशेषगुणः, प्रमार्ष्टुं—निराकर्तुं, न शक्यते—न पार्यते, हि नूनम् । (अत्र दृष्टान्तः दीयते—) अधोमुखस्य कृतस्य—अवाङ्मुखीकृतस्य, अपि, वह्नेः—अग्नेः, शिखाः—ज्वालाः, कदाचित् एव—कस्मिंश्चिदपि काले, अधः—नीचैः, न यान्ति—न गच्छन्ति ।

अनुवाद—धीर पुरुष का धैर्यगुण मिटाया नहीं जा सकता, चाहे वह कितना क्लेशापन्न क्यों न हो । उलट देने पर भी अग्नि की शिखा नीचे की ओर कभी नहीं जाती, उसकी ज्वाला ऊपर को ही भागती है ।

(" The fortitude of the fortitudinous, though they be slighted cannot be wiped out. The flames of the fire, turned downwards seldom go downwards.

संस्कृत-भावार्थ—यथा वह्निज्वाला अधस्कृतापि नाधोमुखीना कर्तुं शक्यते, यतो हि ऊर्ध्वज्वलनमेव तस्य स्वभावः, तथैव धीराः पुरुषाः कदर्थिता अपि विपद्गता अपि स्वकीयं चेतोनिर्विकारत्वरूपं धैर्यगुणं न त्यजन्ति ।

टिप्पणी—(१) कदर्थितस्य—पीड़ित किये गये, सताये गये । कुत्सितः अर्थः कदर्थः (तत्पुरुषसमासः) 'कुगतिप्रादयः' इत्यनेन, कोः कत् आदेशः 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' इत्यनेन, कदर्थं करोति इति कदर्थयति कदर्थ+णिच्+(नामधातु)+क्त=कदर्थितः, तस्य । (२) धैर्यवृत्तेः—धैर्यशाली का । धीरस्य भावः धैर्यम् धीर+ष्यञ् । √वृत्+क्तिन् भावे=वृत्तिः । धैर्येण वृत्तिः यस्य इति धैर्यवृत्तिः (व्यधिकरण ब० स०), तस्य । सम्बन्धे षष्ठी । (३) धैर्यगुणः—धीरता रूप गुण । धैर्यम् एव गुणः (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकम् स०) । कर्मणि प्रथमा । (४) प्रमार्ष्टुम्—मिटाने या दूर करने के लिए । प्र√मृज्+तुमुन् । (५) अधोमुखस्य—नीचे मुँह वाले । अधः अधोगतं मुखं यस्य सः (ब० स०), तस्य । यहाँ 'अधोमुखस्य कृतस्य' यह बड़ा वाक्य है, 'अधोमुखीकृतस्य' होना चाहिए । कोई यहाँ 'अधोमुखस्यापि तनूनपातो नाधः शिखा यान्ति कदाचिदेव' पाठ रखते हैं । किन्तु इसमें अप्रयुक्तत्व दोष होगा । 'तनूनपात्' का प्रयोग शायद ही कहीं मिलता है ।

इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार है और उपजाति छन्द है ।

शीलभ्रष्ट होने की अपेक्षा मर जाना अच्छा है—

वरं शृंगोत्संगाद् गुरुशिखरिणः क्वापि विषमे
पतित्वायं कायः कठिनदृषदन्ते विगलितः।
वरं न्यस्तो हस्तः फणिपतिमुखे तीक्ष्णदशने
वरं वह्नौ पातस्तदपि न कृतः शीलविलयः ॥७८॥

अन्वयः—अयम् कायः गुरुशिखरिणः शृङ्गोत्संगात् क्वापि विषमे कठिन-दृषदन्ते पतित्वा विगलितः वरम् । हस्तः तीक्ष्णदशने फणिपतिमुखे न्यस्तः वरम् । वह्नौ पातः वरम् । तदपि शीलविलयः कृतः (सन्) न (वरम्) ।

संस्कृत-व्याख्या—अयम्—एषः, कायः—शरीरं, गुरुशिखरिणः—गुरुः उन्नतः यः शिखरी पर्वतः तस्य, शृङ्गोत्सङ्गात्—शिखरोपरिभागात्, क्वापि—कस्मिंश्चित्, विषमे—विकटे, कठिनदृषदन्ते—कर्कशपाषाणोपरि, पतित्वा, विगलितः—चूर्णितः (चेत्), वरम्—ईषत्प्रियम्, हस्तः—करः, तीक्ष्णदशने—उग्रदंष्ट्रापूर्णे, फणिपतिमुखे—सर्पाधिराजवक्त्रे, न्यस्तः—निहितः (चेत्), वरम्—मनाक् प्रियम्, वह्नौ—अग्नौ, पातः—पतनं, वरम्, तदपि—किन्तु, शीलविलयः—चरित्रभ्रंशः, कृतः—विहितः (सन्) न—नहि (वरम्)।

अनुवाद—ऊंचे पहाड़ के शिखर पर से अपने को नीचे किसी कठिन पथरीली जमीन पर गिराकर जान दे देना कहीं अच्छा है, बड़े विषैले सांप के तीखे दांतों के बीच हाथ डाल देना कहीं अच्छा है, जलती हुई धधकती आग में कूद पड़ना कहीं अच्छा है—परन्तु शीलभ्रष्ट होना—चरित्रहीन होना किसी हालत में अच्छा नहीं।

Better is this body falling from the top of a peak of a mountain on rugged part of a hard rock, be crushed to pieces; better that the hand be thrust into the sharp fanged mouth of a deadly serpent; better to fall into fire, still it is not better to wreck (*i. e.* lose) one's character.

संस्कृत-भावार्थ—पर्वतात् पतित्वा उग्रदंष्ट्रापूर्णे सर्पमुखे हस्तं निधाय अग्नौ आत्मानं प्रक्षिप्य मरणं वरं किन्तु चरित्रभ्रंशो न वरम्। यतो हि शीलं मानवस्य सर्वोत्तमं धनमस्ति, अतः तस्य रक्षां प्राणान् परित्यज्यापि कुर्यादेव।

टिप्पणी—(१) गुरुशिखरिणः—ऊंचे पर्वत के। शिखर+इनि=शिखरी। गुरुः शिखरी (कर्म० स०) तस्य। सम्बन्धे षष्ठी। (२) शृङ्गोत्सङ्गात्—शिखर के ऊपरी हिस्से से। शृङ्गस्य उत्सङ्गः (ष० त०), तस्मात्। अपादाने पञ्चमी। (३) कठिनदृषदन्ते—कठोर पत्थर की नोक पर। कठिना दृषत् (कर्म० स०), तस्याः अन्तः (ष० त०), तस्मिन्। अधिकरणे सप्तमी। (४) तीक्ष्णदशने—तीखे दांतों वाले। दश्यते अनेन इति दशनम् √दंश्+ल्युट् करणे अथवा दशतीति दशनः √दंश्+ल्यु नन्द्यादित्वात्। तीक्ष्णाः दशनाः यस्मिन् तत् तीक्ष्णदशनम् (ब० स०), तस्मिन्। यह 'फणिपतिमुखे' का विशेषण है। (५) फणिपतिमुखे—सांप के मुंह मे। फणिनां पतिः, तस्य मुखम् (ष० त०), तस्मिन्। अधि-

करणे सप्तमी। (६) शीलविलयः—सदाचरण का नाश होना, चरित्रहीन होना। शीलस्य विलयः (ष० त०)। तात्पर्य यह है कि शील की रक्षा हर प्रकार से करनी चाहिए। अन्यत्र भी कहा है—'वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमायाति याति च। अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः।' (७) वरम्—किञ्चित् प्रिय। 'दैवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीवं मनाक्प्रिये' इत्यमरः।

इस श्लोक में शिखरिणी छन्द है।

शील की महिमा—

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणा-
न्मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ॥७६॥

अन्वयः—यस्य अङ्गे अखिललोकवल्लभतमम् शीलम् समुन्मीलति तस्य वह्निः जलायते, जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात् मेरुः स्वल्पशिलायते, मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते, व्यालः माल्यगुणायते, विषरसः पीयूषवर्षायते।

संस्कृत-व्याख्या—यस्य—मनुष्यस्य, अङ्गे—शरीरे, अखिललोकवल्लभतमम्—अखिललोकानां समस्तजनानां वल्लभतमं प्रियतमं, शीलं—सद्वृत्तं, समुन्मीलति—समुल्लसति, तस्य—जनस्य, वह्निः—अग्निः, जलायते—जलमिव आचरति, जलनिधिः—समुद्रः, कुल्यायते—कुल्या इव अल्पनदी इव आचरति, तत्क्षणात्—तस्मिन्नेव क्षणे, मेरुः—सुमेरुपर्वतः, स्वल्पशिलायते—अल्पदृषत् इव आचरति, मृगपतिः—सिंहः, सद्यः—सत्वरं, कुरङ्गायते—हरिणः इव आचरति, व्यालः—सर्पः, माल्यगुणायते—माल्यगुण इव स्रक्तन्तुरिव आचरति, विषरसः—गरलद्रवः, पीयूषवर्षायते—पीयूषवर्षः अमृतवृष्टिः इव आचरति।

अनुवाद—जिस मनुष्य के शरीर में सारे संसार की प्यारी वस्तु शील है उसके लिये आग पानी हो जाती, समुद्र नहर हो जाता, मेरु पहाड़ तत्काल ही छोटी शिला हो जाता, सिंह तुरंत ही हरिण हो जाता, सर्प पुष्पमाला हो जाता और उसके लिये विष अमृत हो जाता है।

Fire acts like water, the ocean becomes a canal, the Meru mountain becomes at once a small slab of stone, the lion beh-

aves immediately like a deer, the serpent like a string of garland and the poisonous juice becomes a shower of nectar to that man in whose body flourishes good character, the most prized thing in the entire world.

संस्कृत-भावार्थ—सर्वजनप्रियं शीलं यस्य वर्तते तस्य सर्वे दुःखहेतवः सुखहेतवः भवन्ति। यतो हि शीलेन स परेषां गुणं स्वरूपं च स्वानुकूलं कर्तुं शक्नोति। अतएव सच्छीलः वह्नि जलमिव ग्रहीतुं, समुद्रं क्षुद्र सरितमिव तर्तुं, मेरुं लघुपाषाणमिव लङ्घयितु, सिहं मृगमिव कातरं कर्तुं, सर्प च मालामिव धारयितु विषं चामृतमिव पातुं स प्रभवति।

टिप्पणी—(१) **अखिललोकवल्लभतमम्**—सारे संसार को अत्यंत प्रिय। अखिलाः लोकाः (कर्म० स०), तेषां वल्लभतमम् (ष० त०)। वल्लभ+तमप्। (२) **तस्य**—उसके लिए। यहां तादर्थ्य षष्ठी है। जैसे 'अश्वस्य घासः अश्वघासः—अश्व के लिए घास; धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी—धर्म के लिए पत्नी' में तादर्थ्य षष्ठी होती है उसी तरह यहां भी हुई। (३) **जलायते**—जल जैसा (शीतल) हो जाना है। जलम् इव आचरति इति जलायते जल+क्यङ 'कर्तुः क्यङ सलोपश्च' इत्यनेन, ततः 'अकृत्सार्वधातुकयोः—'इति सूत्रेण दीर्घः, लट्—ते (४) **कुल्यायते**—नहर की तरह (सुलंघ्य) हो जाता है। कुल्या इव आचरति इति कुल्या+क्यङ+लट्—ते। (५) **स्वल्पशिलायते**—छोटे पत्थर जैसा हो जाता है। स्वल्पा शिला (कर्म० स०), स्वल्पशिला+क्यङ+लट्—ते। (६) **कुरङ्गायते**—मृग जैसा हो जाता है। कुरङ्ग+क्यङ+लट्—ते। (७) **माल्यगुणायते**—माला के धागे जैसा हो जाता है। माल्यस्य गुणः (ष० त०), माल्यगुण इव आचरति इति माल्यगुण क्यङ+लट्—ते। (८) **पीयूषवर्षायते**—अमृत की वर्षा जैसा हो जाता है। पीयूषस्य वर्षाः (ष० त०), पीयूषवर्षा इव आचरति इति पीयूषवर्षा+क्यङ+लट्—ते।

इस श्लोक में क्रव्यर्थ से औपम्य की प्रतीति होने के कारण उपमा अलंकार का भेद है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

दुःख के बाद सुख अवश्य मिलता है—

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः।
इति विमृशन्तः सन्तः संतप्यन्ते न विप्लुता लोके ॥८०॥

अन्वयः—तरुः छिन्नः (सन्) अपि पुनः रोहति; चन्द्रः क्षीणः अपि पुनः उपचीयते इति विमृशन्तः सन्तः लोके विप्लुताः अपि न संतप्यन्ते।

संस्कृत-व्याख्या—तरुः—वृक्षः, छिन्नः—कृत्तः (सन्) अपि, पुनः—भूयः, रोहति—उद्गच्छति, चन्द्रः—इन्दुः, क्षीणः—कृशः, अपि, पुनः, उपचीयते—प्रवर्धते, इति—एवं, विमृशन्तः—मनसि चिन्तयन्तः, सन्तः—सत्पुरुषाः, लोके—संसारे, विप्लुताः—आपदाभिभूताः, अपि, न सन्तप्यन्ते—न दुःखिता भवन्ति।

अनुवाद—काटने पर भी वृक्ष बढ़ता है, क्षीण होने पर भी चन्द्रमा फिर बढ़ जाता है, यह सोच कर संत लोग संसार में दुःखपीड़ित होने पर भी दुःखित नहीं होते।

A tree, though cut down, grows again; the moon, though waned waxes again: thus reflecting, the good are not afflicted in this world though plunged in miseries.

संस्कृत-भावार्थ—छिन्नस्य वृक्षस्य पुनरङ्कुरणमिव कलाक्षीणस्य चन्द्रस्य पुनरुपचय इव दुःखानन्तरं सुखं सर्वैर्लभ्यमेवेति विचार्य सज्जनाः विपत्स्वपि दुःखं नानुभवन्ति।

टिप्पणी—(१) तरु—वृक्ष। तरति समुद्रादिकम् अनेन इति√तॄ+उ। (२) छिन्नः—कटा हुआ। √छिद्+क्त कर्मणि। (३) क्षीणः—(कलाओं से) क्षीण हुआ। √क्षि+क्त, 'निष्ठायामण्यदर्थे' इत्यनेन दीर्घः, 'क्षियो-दीर्घात्' इत्यनेन तस्य नः। (४) उपचीयते—बढ़ता है। उप√चि+लट्—ते कर्मणि, यक्। 'अपचीयते' का अर्थ है—घटता है। (५) सन्तप्यन्ते—संतप्त होते हैं। सम्√तप्+लट्—अन्ते कर्मणि अथवा कर्मकर्तरि, यक्। (६) विप्लुताः—विपत्तिग्रस्त या दुःखाभिभूत। वि√प्लु+क्त। 'विप्लुता लोके' के स्थान पर 'न लोकेषु' पाठभेद मिलता है।

इस श्लोक में आर्या छन्द है।

शील ही सर्वोत्कृष्ट भूषण है—

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।

अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥८१॥

अन्वयः—ऐश्वर्यस्य सुजनता विभूषणम्, शौर्यस्य वाक्संयमः, ज्ञानस्य उपशमः, श्रुतस्य विनयः, वित्तस्य पात्रे व्ययः, तपसः अक्रोधः, प्रभवितुः क्षमा, धर्मस्य निर्व्याजता, सर्वकारणम् इदम् शीलम् सर्वेषाम् अपि परम् भूषणम् (अस्ति)।

संस्कृत-व्याख्या—ऐश्वर्यस्य—स्वामित्वस्य, सुजनता—सौजन्यं, विभूषणं—मण्डनम्, शौर्यस्य—वीरतायाः, वाक्संयमः—वाचो दमनम् (विभूषणम्), ज्ञानस्य—आत्मज्ञानस्य, उपशमः—चित्तशान्तिः (विभूषणम्), श्रुतस्य—वेदादिश्रवणस्य, विनयः—नम्रता (विभूषणम्), वित्तस्य—धनस्य, पात्रे—सत्पात्रे, व्ययः—दानं (विभूषणम्), तपसः—तपस्यायाः, अक्रोधः क्रोधशून्यत्वं (विभूषणम्), प्रभवितुः—निग्रहानुग्रहसमर्थस्य, क्षमा—सहिष्णुता (विभूषणम्), धर्मस्य—श्रुतिस्मृतिप्रतिपादितपवित्रकर्तव्यस्य, निर्व्याजता—आडम्बरशून्यता (विभूषणम्), सर्वकारणं—सकलमूलम्, इदम्—एतत्, शीलं—सच्चरित्रं, सर्वेषाम् अपि—सकललोकानामपि, परम्—उत्कृष्टं, भूषणम्—अलङ्कारः (अस्ति)।

अनुवाद—ऐश्वर्य का विभूषण सुजनता, शूरता का वचनसंयम, ज्ञान का शान्ति, शास्त्र पढ़ने का विनय, धन का सत्पात्र में दान करना, तपस्या का क्रोध नहीं करना, प्रभुता का क्षमा और धर्म का भूषण है निश्छलता—यह शील बड़ा भारी भूषण है, यह सब की जड़ है।

Gentlemanliness is the ornament of power, restraint over speech, that of bravery: quietitude is (the ornament) of self-knowledge, modesty that of Vedic knowledge; spending over worthy recipient is (the ornament) of wealth; non-anger, that of penance forgiveness is (the ornament) of great majesty and freedom from hypocrisy, that of piety; while this good character, the root of all these, is the greatest ornament of all.

संस्कृत-भावार्थ—ऐश्वर्यं सौजन्येन, शूरत्वं वाक्संयमेन, ज्ञानं चित्तशान्त्या, शास्त्राध्ययनं विनयेन, धनं सत्पात्रेषु वितरणेन, तपः अक्रोधेन, प्रभुत्वं क्षमया, धर्मश्च निश्छलतया शोभते। परन्तु एतेषामपि मूलकारणं शीलं सकललोकानामपि उत्कृष्टं भूषणम् अस्ति

टिप्पणी—(१) ऐश्वर्यस्य—विभूति का। √ईश्+वरच् 'स्थेशभासपिस-कसो वरच्' इत्यनेन। ईश्वरस्य भावः ऐश्वर्यम् ईश्वर+ष्यञ्। (२) **विभूषणम्**—अलंकार। विभूष्यते अनेन इति विभूषणम् वि√भूष्+ल्युट् करणे। (३) **शौर्यस्य**—वीरता का। शूरस्य भावः शौर्यम् शूर+ष्यञ्। (४) **वाक्संयमः**—वाणी पर संयम, मितभाषिता। सम्√यम्+अप् 'यमः समुपनिविषु च' इत्यनेन =संयमः। वाचि संयमः वाक्संयमः (स० त०)। (५) उपशमः—विषय में मन को रोकना, शान्ति। उप√शम्+घञ् 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' इत्यनेन वृद्धिनिषेधः। (६) श्रुतस्य—शास्त्रज्ञान का। 'श्रुतं शास्त्रावधृतयोः' इति विश्वः। (७) अक्रोधः—क्रोध का न होना या होने पर उसको रोकना। न क्रोधः अक्रोधः (न० त०) 'क्वचित् प्रसज्यप्रतिषेधेऽसमास इष्यते'। (८) प्रभवितुः—अधिकारी होने का। प्र√भू+तृच्=प्रभविता, तस्य। (९) निर्व्याजता—निश्छलता। निर्गतः व्याजः यस्मात् स निर्व्याजः (ब० स०), निर्व्याज+तल्+टाप्।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

अथ दैवपद्धतिः

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावतो वारणः।
इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः संगरे
तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥८२॥

अन्वयः—यस्य नेता बृहस्पतिः, प्रहरणम् वज्रम्, सुराः सैनिकाः, स्वर्गः दुर्गम्; हरेः अनुग्रहः खलु, वारणः ऐरावतः इति आश्चर्यबलान्वितः अपि बलभित् संगरे परैः भग्नः। तत् व्यक्तम् दैवम् एव ननु शरणम् धिक् धिक् पौरुषम् वृथा।

संस्कृत-व्याख्या—यस्य—इन्द्रस्य, नेता—हिताहितोपदेशकः, बृहस्पतिः—सुरगुरुः, प्रहरणम्—आयुधम्, वज्रम्—कुलिशम्, सुराः—देवाः, सैनिकाः—योद्धारः, स्वर्गः—स्वर्लोकः, दुर्गं—शत्रुभिरगम्यं रक्षास्थानम्, हरेः—विष्णोः, अनुग्रहः—कृपा, खलु—निश्चयेन, वारणः—गजः, ऐरावतः—एतन्नामा गजराजः, इति—इत्थम्, आश्चर्यबलान्वितः—अद्भुतशक्तिसम्पन्नः, अपि, बलभित्—इन्द्रः, संगरे—संग्रामे, परैः—शत्रुभिः, भग्नः—विजितः, तत्—तस्मात् कारणात्,

व्यक्तं—स्पष्टं यथा तथा, दैवं—भाग्यम्, एव, ननु—नूनं, शरणं—रक्षकं, धिक् धिक्—भूयो भूयो धिक्कारोऽस्तु. पौरुषं—पुरुषकारः, वृथा—व्यर्थम् ।

अनुवाद—जिस इन्द्र के नेता (सलाहकार) स्वयं बृहस्पति थे, जिसका हथियार वज्र था और सैनिक सारे देवगण, जिसका कि दुर्ग स्वर्ग था और जिस पर स्वयं भगवान् विष्णु की कृपा रहती थी, जिसका ऐरावत हाथी था ऐसे अद्भुतबलसमन्वित इन्द्र समर में अपने शत्रुओं से हार खाकर भाग जाते थे। इसलिये यह स्पष्ट है कि भाग्य का ही एक भरोसा है, छी ! छी !! पौरुष वृथा है ।

Indra, though possessed of wonderful prowess was routed in battle by his enemies, Indra who had बृहस्पति for his adviser (lit. leader) thunder-bolt for his weapon, gods for his warriors, heaven for his fort, and who verily enjoyed the favour of Lord Hari, and had Airavata for his elephant. It is, therefore, clear that fate alone is indeed the (final) refuse, fie. fie. valour is all futile.

संस्कृत-भावार्थ—दैवे सहायके सत्येव पुरुषार्थः सफलो भवति नान्यथा। प्रत्यक्षमेवात्रोदाहरणं देवेन्द्रस्य, यत् सर्वातिशयप्रज्ञाशाली बृहस्पतिस्तस्य परामर्शदाता, वज्रम् आयुधम्, देवाः योद्धारः, स्वर्गो दुर्गम्, विष्णोः कृपा, ऐरावतः गजः इत्येकैकमपि अनुत्तमं, तथापि दैत्यैः स पराजितः । अत्र कारणं—भाग्यं नासीत् तस्य अनुकूल, पुरुषार्थे तु न कापि न्यूनता ।

टिप्पणी—(१) नेता—मार्गदर्शक । √नी+तृच् । (२) बृहस्पतिः—देवगुरु । बृहतां वाचां पतिः बृहस्पतिः (ष० त०) 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' इत्यनेन सुट् आगमः तकारस्य लोपः । (३) हरेः अनुग्रहः खलु—प्रकट रूप से विष्णु की कृपा। विष्णु इन्द्र के छोटे भाई कहे जाते हैं । 'उपेन्द्र इन्द्रावरजः' इत्यमरः । अतएव भगवान् विष्णु इन्द्र की आज्ञा का पालन करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं । (४) ऐरावतः वारणः—ऐरावत हाथी । इराः आपः सन्ति अस्मिन् इति इरावान्=समुद्रः, इरा+मतुप्, मस्य वः, तत्र भवः ऐरावतः इरावत्+अण् । (५) आश्चर्यबलान्वितः—अद्भुत बल से युक्त । आश्चर्यम् बलम् (कर्म० स०), तेन अन्वितः (तृ० त०) । (६) व्यक्तम्—स्पष्ट रूप से । (७) शरणम्—रक्षक । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । यह शब्द अजहल्लिङ्ग

है । धिक्-धिक्—धिक्कार है । यहां 'वृथा पौरुषं धिक्-धिक्' ऐसा भी अन्वय कर सकते हैं । तब इसका अर्थ होगा—व्यर्थ के पौरुष को धिक्कार है ।

इस श्लोक में बृहस्पतिः, सुराः, स्वर्गः, हरेः, अनुग्रहः, ऐरावतः आदि शब्द विशेष अभिप्राय सूचित करने के लिए प्रयुक्त किये गये हैं, इसलिए परिकर अलंकार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

भाग्य ही मनुष्यों की उन्नति-अवनति में कारण है—

भग्नाशस्य करण्डपिण्डिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः ।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा
स्वस्थास्तिष्ठत दैवमेव हि परं वृद्धौ क्षये कारणम् ।।८३।।

अन्वयः—आखुः नक्तम् विवरम् कृत्वा करण्डपिण्डिततनोः क्षुधा म्लानेन्द्रियस्य भग्नाशस्य भोगिनः मुखे स्वयम् निपतितः, तत्पिशितेन तृप्तः असौ सत्वरम् तेन एव पथा यातः । (हे जनाः !) स्वस्थाः तिष्ठत, वृद्धौ क्षये च दैवम् एव हि परम् कारणम् ।

संस्कृत-व्याख्या—आखुः—मूषिकः, नक्तं—रात्रौ, विवरं—बिलं, कृत्वा—विधाय, करण्डपिण्डिततनोः—करण्डे वंशमञ्जूषायां पिण्डिता पुञ्जीकृता तनुः शरीरं यस्य तादृशस्य, क्षुधा—बुभुक्षया, म्लानेन्द्रियस्य—शिथिलकरणस्य, भग्नाशस्य—निराशस्य, भोगिनः—सर्पस्य, मुखे—वदने, स्वयं—स्वतः, निपतितः—गतः, तत्पिशितेन—तस्य मूषिकस्य पिशितेन मांसेन, तृप्तः—सन्तुष्टः, असौ—सर्पः, सत्वरं—शीघ्रं, तेन एव पथा—मूषिककृतेन विवर-मार्गेण एव, यातः—बहिर्गत्वा पलायितः । (हे जनाः !) स्वस्थाः—स्थिरचित्ताः, तिष्ठत, वृद्धौ—उन्नतौ, क्षये—अवनतौ (च), दैवं—भाग्यम्, एव, हि—निश्चयेन, परम्—उत्कृष्टं, कारणं—हेतुः (अस्ति) ।

अनुवाद—एक सांप पिटारे में बन्द, निराश हो, भूख के मारे शिथिल पड़ा गुड़ियाया हुआ बैठा था । रात में एक चूहा उस पिटारे में छेद करके आपसे आप उस सांप के मुंह में जा गिरा । उसका मांस खा, तृप्त होकर वह सांप उसी छेद में होकर तुरन्त बाहर निकल भागा । हे लोगो ! स्थिर रहो, वृद्धि और क्षय

A rat, making a hole at night, into a basket-box, fell of his own accord, into the mouth of a heart-broken serpent coiled therein with all his senses enfeeble by hunger. Being, well satisfied with its flesh, the snake soon went out (of the box) through that very path (cut by the rat). Be at ease, O men, it is destiny alone that is the cause of the rise and fall (of men).

संस्कृत-भावार्थ—कश्चित् सर्पः रात्रौ आहितुण्डिकस्य वंशमञ्जूषायां बुभुक्षितः कुण्डलितः अतिष्ठत्। केनचिच्च मूषकेण भक्ष्याशया स्वदंष्ट्राभिः पेटिकां छित्त्वा अन्तर्गतम्। तत्र गतो मूषिकः सर्पेण भक्षितः। अनन्तरं सर्पः मूषिककृतविवरद्वारेण वहिर्निर्गम्य पलायितः। भोजनविषये भग्नाशस्य सर्पस्य प्रयत्नं विनैव क्षुन्निवृत्तिं बन्धनमुक्तिं च तथा भक्ष्याशया कृतप्रयत्नस्याखोर्विनाशं च दृष्ट्वा निश्चीयते यत् प्राणिनां सम्पत्तौ विपत्तौ च भाग्यमेव कारणं भवति।

टिप्पणी—(१) आखुः—चूहा। आ√खन्+कु। (२) नक्तम्—रात्रि में। (३) करण्डपिण्डिततनोः—पिटारी में सिकुड़े या दबे हुए शरीर वाले। यह 'भोगिनः' का विशेषण है। पिण्डः अस्याः संजातः इति पिण्डिता पिण्ड+इतच् 'तदस्य संजातमिति तारकादिभ्य इतच्' इत्यनेन, टाप्। करण्डे पिण्डिता इति करण्डपिण्डिता (स० त०), तादृशी तनुः यस्य सः (ब० स०), तस्य। (४) म्लानेन्द्रियस्य—जिसकी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गई हैं। √म्लै+क्त=म्लान। इन्द्र+घ=इन्द्रियं। म्लानानि इन्द्रियाणि यस्य स म्लानेन्द्रियः (ब० स०), तस्य। यहाँ म्लान शब्द 'क्षुधा' से सम्बद्ध है, इसलिए सामर्थ्याभावात् समास नहीं होना चाहिए, किन्तु 'सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः' इस नियम से समास हो गया। (५) भग्नाशस्य—(भोजन की प्राप्ति में) निराश हुए। भग्ना आशा यस्य स भग्नाशः (ब० स०), तस्य। (६) भोगिनः—सर्प के। भोगः फणः अस्ति अस्य इति भोगी भोग+इनि, तस्य। (७) तत्पिशितेन—उस (चूहे) के मांस से। तस्य पिशितम् (ष० त०), तेन। (८) सत्वरम्—शीघ्र। त्वरया सह वर्तमानं यत् तत् ('तेन सहेति तुल्ययोगे' इत्यनेन ब० स०), तत् यथा स्यात् तथा। क्रियाविशेषणे द्वितीया। (९) वृद्धौ क्षये—समृद्धि और विनाश में या उन्नति या अवनति में।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

आर्य और अनार्य के पतन में भेद—

यथा कन्दुकपातेनोत्पतत्यार्यः पतन्नपि ।
तथा त्वनार्यः पतति मृत्पिण्डपतनं यथा ॥८४॥

अन्वयः—आर्यः पतन् अपि कन्दुकपातेन यथा उत्पतति तथा, तु अनार्यः मृत्पिण्डपतनम् यथा पतति ।

संस्कृत-व्याख्या—आर्यः—उत्तमः जनः, पतन् अपि—कुतश्चित्कारणात् नीचैः गच्छन्नपि, कन्दुकपातेन—गेन्दुकवत् पतनेन, यथा—इव, उत्पतति—ऊर्ध्वं गच्छति, तथा, तु—किन्तु, अनार्यः—नीचो जनः, मृत्पिण्डपतनं यथा—मृत्तिकालोष्टवत्, पतति—नीचैर्गच्छति ।

अनुवाद—सत्पुरुष गेंद की तरह गिरता हुआ भी फिर ऊपर उठता है, पर नीच ढेले की तरह गिरता है (जिससे फिर वह ऊपर नहीं उठ पाता है) ।

A noble man, though fallen, rebounds like the throw (fall) of a ball, the ignoble one fall like the downward fall of a lump of clay.

संस्कृत-भावार्थ—कन्दुकपतनोत्थानवत् सत्पुरुषः परिस्थितिवशात् सकृद् अवनतिं गत्वापि स्वपुरुषार्थेन पुनरपि उन्नतिं करोति, किन्तु दुर्जनः सकृद् अवनतिं प्राप्य न पुनः उन्नतिं गच्छति । सः तथैव विनष्टो भवति यथा मृल्लोष्टम् ।

टिप्पणी—(१) आर्यः—शिष्ट—सुसंस्कृत व्यक्ति को आर्य कहते हैं । आर्य का लक्षण—'कर्तव्यमाचरन्काममकर्तव्यमनाचरन् । तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्य इति स्मृतः' । इति वसिष्ठः । आराद् यातः इति आर्यः अर्थात् 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यनेन आराद्=असभ्यतादुराचारादिदोषेभ्यो दूरं गतः शिक्षासभ्यताविद्यादिभिः देवास्पदत्वं प्राप्तः इति आर्यः पृषोदरादित्वात् साधुत्वम् अथवा अर्तुं योग्यः इति आर्यः√ऋ+ण्यत् 'ऋहलोर्ण्यत्' इत्यनेन (२) कन्दुकपातेन यथा—गेंद की तरह गिरने से । यहाँ 'यथा' का अर्थ है—सदृश ।

इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है ।

भाग्यहीन के लिए सर्वत्र विपत्ति ही है—

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः संतापिते मस्तके
गच्छन्देशमनातपं द्रुतगतिस्तालस्य मूलं गतः ।

तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः
प्रायो गच्छति यत्र दैवहतकस्तत्रैव यान्त्यापदः ॥८५॥

अन्वयः—खल्वाटः दिवसेश्वरस्य किरणैः मस्तके सन्तापिते (सति) द्रुतगतिः (सन्) अनातपं देशम् गच्छन् तालस्य मूलं गतः, तत्र अपि पतता महाफलेन अस्य शिरः सशब्दं भग्नम्। दैवहतकः यत्र गच्छति आपदः प्रायः तत्रैव यान्ति।

संस्कृत-व्याख्या—खल्वाटः—निष्केशशिराः, दिवसेश्वरस्य—सूर्यस्य, किरणैः—रश्मिभिः, मस्तके—शिरसि, सन्तापिते—सम्पीडिते (सति), द्रुतगतिः—शीघ्रगामी (सन्), अनातपं—छायायुक्तं प्रदेशं, गच्छन्—व्रजन्, तालस्य—एतन्नामकवृक्षस्य, मूलम्—अधोभागे, गतः—सम्प्राप्तः, तत्र अपि—तस्मिन् स्थलेऽपि, पतता—वृन्तात् गलता, महाफलेन, अस्य—खल्वाटस्य, शिरः—मस्तकं, सशब्दं—शब्देन सहितं यथा स्यात् तथा, भग्नं—विदलितम्। दैवहतकः—दैवोपहतः (जनः), यत्र—यस्मिन् स्थाने, गच्छति, आपदः—विपदः, प्रायः—बहुशः, तत्रैव, यान्ति।

अनुवाद—कोई गंजा मनुष्य सूर्य की किरणों से संतप्त हो, छायादार जगह की खोज में तेजी से चलता-चलता एक ताल के वृक्ष के नीचे जा खड़ा हुआ। पर वहाँ पर भी ताल का बड़ा भारी फल जोर से उसके सिर पर गिर पड़ा, जिससे उसका सिर फटकर फूट गया। प्रायः देखा जाता है कि अभागा जहाँ-जहाँ जाता है, विपत्ति भी वहीं उसके पीछे-पीछे लगी जाती है।

A bald man, being scorched up on his head by the rays of the sun, speeding fast, looking for a shady (lit. sun-less) place, went to the root of a Palmyra tree; There, too, his head was broken with a great crash by a big Tala fruit falling from the tree. Misfortunes go wherever the ill-fatedman goes. Or misfortunes follow the unlucky, wherever they go.

संस्कृत-भावार्थ—दैवोपहतान् जनान् विपदः सर्वत्र पीडयन्ति। यथा कश्चित् खल्वाटः आतपसन्तप्तः सन् छायाभिलाषी भूत्वा एकस्य तालवृक्षस्य अधस्तात् उपविष्टः। तदैव उपरितः वेगेन पतता तालफलेन तस्य मस्तकं स्फुटितम्।

टिप्पणी—(१) खल्वाटः—गंजा, जिसके सिर पर बाल न हों। सिर के बालों का झड़ जाना खलति रोग है। यही दुर्भाग्य हुआ। ऐसा एक व्यक्ति गंजे

सिर पर धूप लगने से व्याकुल होकर छाया के लिए इधर-उधर भागने लगा। ताल वृक्ष के निकट जाने पर उसे कुछ छाया प्राप्त हुई। पर वहाँ भी दुर्भाग्य वश उसके सिर पर ताल का एक फल गिरा जिससे उसका गंजा सिर बड़े जोर के शब्द के साथ फूट गया। इसलिए कहा जाता है कि अभागा जहाँ भी जाता है, आपत्तियाँ भी वहीं पहुँच जाती हैं। (२) मस्तके—अत्र भावे सप्तमी। मस्तके सन्तापिते सति। (३) द्रुतगतिः—फुर्ती से चलने वाला। द्रुता गतिः यस्य सः (ब० स०)। (४) अनातपम्—धूप से रहित। अविद्यमानः आतपः यस्मिन् स अनातपः (न० ब० स०), तम्। (५) सशब्दम्—शब्द के साथ। शब्देन सह वर्तमानं यत् (तुल्ययोगे बहुव्रीहिः) तत् यथा स्यात् तथा। क्रियाविशेषणे द्वितीया। (६) दैवहतकः—भाग्य का मारा हुआ, अभागा मनुष्य। दैवेन हतः इति दैवहतः (तृ० त०), स्वार्थे कन् प्रत्ययः। अथवा हतं दैवं यस्य स हतदैवः वा दैवहतः (ब० स०), 'वाहिताग्न्यादिषु' इति सूत्रेण विकल्पेन दैवशब्दस्य पूर्वप्रयोगः, ततः 'शेषाद्विभाषा' इति सूत्रेण समासान्तः कप्।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

पुनः भाग्य की प्रबलता का निदर्शन—

गजभुजंगविहंगमबन्धनं शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनम्।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥८६॥

अन्वयः—गजभुजङ्गविहङ्गमबन्धनं—हस्तिसर्पपक्षिणां बन्धनं नियमनं, शशिदिवाकरयोः—चन्द्रसूर्ययोः, ग्रहपीडनं—ग्रहेण राहुणा पीडनं ग्रासः, मतिमतां—बुद्धिमतां, दरिद्रतां—निर्धनतां, च, विलोक्य—दृष्ट्वा, अहो—आश्चर्यम्, विधिः—दैवं, बलवान्—शक्तिशाली, इति—एतादृशी, मे—मम, मतिः—बुद्धिः निश्चय इति यावत्।

अनुवाद—हाथी, साँप और पक्षी का बाँधा जाना, चन्द्रमा और सूर्य में ग्रहण लगना और बुद्धिमानों की दरिद्रता को देखकर मेरी राय में तो यही बात ठीक जँचती है कि "भाग्य बलवान् है"।

Seeing the capture of the elephant, the serpent and the bird; seeing the oppression of the sun and the moon by the planet

Rahu; and seeing the poverty of the talented people, I do think, "Ah! Destiny is all powerful."

संस्कृत-भावार्थ—गगनविहारिणौ तेजस्विनौ च सूर्याचन्द्रमसौ छायाग्रहेण राहुणा ग्रस्येते, वने स्वच्छन्दं विहरन्तो वलिनो गजा विषधरा नागाश्च जनैः वशीक्रियन्ते, बुद्धिमन्तोऽपि क्वचिद् दारिद्र्यमनुभवन्ति इति दर्श दर्श निश्चिनोमि यद् भाग्यं सर्वेषामपि बलिष्ठम्।

टिप्पणी—(१) गजभुजङ्गविहङ्गमबन्धनम्—हाथी, साँप और पक्षी का (वश में करके) बाँधा जाना। गजश्च भुजङ्गश्च विहङ्गमश्च इति गजभुजङ्ग-विहङ्गमा. (द्व० स०), तेषां बन्धनम् (ष० त०)। भुजं वक्रं गच्छति इति भुज √गम्+खच् 'गमेः सुपि वाच्यः' इत्यनेन, 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इत्यनेन मुमा-गमः, 'खच्च डिद्वा वाच्यः' इत्यनेन विकल्पेन डित्वात् पक्षे टिलोपः=भुजङ्गमः वा भुजङ्गः। इसी तरह विहङ्गमः वा विहङ्गः, विहायसा आकाशेन गच्छति इति विहायस्√गम्+खच् आदि पूर्ववत्, विहायसो विह इति वाच्यम्' इत्यनेन विह आदेशः। (२) शशिदिवाकरयोः—चन्द्रमा और सूर्य का। शशी च दिवाकरश्च इति शशिदिवाकरौ (द्व० स०), तयोः। कर्मणि षष्ठी 'कर्तृकर्मणोः कृति' इत्य-नेन। (३) ग्रहपीडनम्—ग्रह (राहु) द्वारा सताया जाना। √ग्रह्+अच् पचा-दित्वात्=ग्रहः। ग्रहेण पीडनम् (तृ० त०)। (४) विलोक्य—यहाँ 'समानक-र्तृकयोः पूर्वकाले' सूत्र से समानकर्तृकत्व में क्त्वा प्रत्यय करने के लिए 'स्थितस्य' पद का अध्याहार करना चाहिए। इस श्लोक की तुलना कीजिए—'विधु-रपि विधियोगाद् ग्रस्यते राहुणासौ, लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः' (हितोपदेश)।

इस श्लोक मे अर्थान्तरन्यास तथा काव्यलिंग अलंकार हैं। इसमें द्रुतविल-म्बित छन्द है। छन्द का लक्षण—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ'।

अनुचितकारी विधाता—

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलंकरणं भुवः।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेदहह कष्टमपण्डितता विधेः॥८७॥

अन्वयः—(विधिः) तावत् अशेषगुणाकरम् भुवः अलंकरणम् पुरुषरत्नम् सृजति। तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेत् विधेः अपण्डितता, अहह कष्टम्।

संस्कृत-व्याख्या—(विधिः) तावत्, अशेषगुणाकरं—सकलगुणनिधि, भुवः—पृथिव्याः, अलंकरणं—भूषणं, पुरुषरत्नं—नरश्रेष्ठं, सृजति—निर्माति, तदपि—तथापि सृजन् अपि इत्यर्थः तत्—पुरुषरत्नं, क्षणभङ्गि—क्षणभङ्गुरं, करोति चेत्—विदधाति यदि, (तर्हि) विधेः—स्रष्टुः, अपण्डितता—मूर्खता, अहह कष्टम्—अतिकृच्छ्रम् ।

अनुवाद—ब्रह्मा सर्वगुणसम्पन्न तथा पृथ्वी के भूषण पुरुषरत्न की सृष्टि तो करता है सही परन्तु उसे वह क्षणभंगुर बना देता है । हाय ! दुःख ! ब्रह्मा की कैसी मूर्खता है ।

The Creator does create a gem of man, an ornament of the world, a mine of all good qualities: still if he makes that (gem in form of a man) very frail, then alas ! woe to the folly of the Creator !

संस्कृत-भावार्थ—विधाता यदि सकलगुणनिधि कञ्चिन्नररत्नमुत्पादयति तर्हि स तेन चिरञ्जीवो विधेयः । स्वल्पायुषस्तस्य सर्जनं तु विधातुर्मूर्खतां सूचयति ।

टिप्पणी—(१) (विधिः)—यह 'सृजति' का लुप्त कर्ता है । (२) तावत्—यहाँ अवधारणार्थक अव्यय है । 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यमरः । (३) अशेषगुणाकरम्—निखिल गुणों की खान । अशेषाः गुणाः (कर्म० स०), अशेषगुणानाम् आकरः (ष० त०), तम् । यह 'पुरुषरत्नम्' का विशेषण है । (४)पुरुषरत्नम्—नरश्रेष्ठ को । पुरुषेषु रत्नं श्रेष्ठः (स० त०) । 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमिति कथ्यते' । अथवा पुरुषः एव रत्नम् (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकरूप स०) । यहाँ पुरुषः रत्नम् इव—उपमित स० नहीं कर सकते, क्योंकि 'क्षणभङ्गि' यहाँ नपुंसक शब्द स्पष्ट बता रहा है कि यहाँ प्रधानता 'रत्नम्' की है । (५) तदपि—तथापि । यहाँ कोई 'तत्' का अर्थ पुरुषरत्न और 'तत्क्षणभङ्गि' की व्याख्या 'स एव क्षणः तत्क्षणः, तस्मिन् भज्यते इत्येवंशीलम्' करते हैं, जो समीचीन नहीं है । क्योंकि इसका तात्पर्य होगा—'पुरुषरत्न उसी क्षण अर्थात् पैदा होते ही मर जाता है' । ऐसा कहाँ होता ? (६) क्षणभङ्गि—क्षणभंगुर, अल्पायु । क्षणेन क्षणमात्रेण भङ्क्तुं शीलं यस्य तत् क्षण√भञ्ज्+घिनुण् (ताच्छील्ये)=क्षणभङ्गि । (७) अहह—यह खेदसूचक अव्यय है । 'अहहेत्यद्भुते खेदे' इत्यमरः ।

इस श्लोक में द्रुतविलम्बित छन्द है।

विधिकर लिखा को मेटनहारा—

अयममृतनिधानं नायकोऽप्योषधीनाम्
शतभिषगनुयातः शंभुमूर्ध्नोऽवतंसः।
विरहयति न चैनं राजयक्ष्मा शशाङ्कं
हतविधि परिपाकः केन वा लङ्घनीयः ॥८८॥

अन्वयः—अयम् अमृतनिधानम् (अपि) ओषधीनाम् नेता अपि शतभिषगनुयातः (अपि) शम्भुमूर्ध्नः अवतंसः (अपि) (तथापि) राजयक्ष्मा एनम् शशाङ्कम् च न विरहयति। हतविधिपरिपाकः केन वा लङ्घनीयः।

संस्कृत-व्याख्या—अयं दृश्यमानः चन्द्रः, अमृतनिधानम्—अमृतस्य पीयूषस्य निधानं स्थानम् (अपि), ओषधीनां—संजीवन्यादीनां, नेता अपि—नायकः अपि, शतभिषगनुयातः—शतभिषजा नक्षत्रेण शतेन भिषग्भिः वैद्यैश्च अनुयातः अनुसृतः (अपि), शम्भुमूर्ध्नः—शिवमस्तकस्य, अवतंसः—शिरोभूषणम् (अपि), (तथापि) राजयक्ष्मा—क्षयरोगः, एनम्—उक्तविशेषणविशिष्टं, शशाङ्कं—चन्द्रं, न च—नैव, विरहयति—त्यजति तमपि पीडयतीत्यर्थः। (अतः) हतविधिपरिपाकः—हतविधेः नष्टदैवस्य परिपाकः नियोगः, केन वा—पुंसा, लङ्घनीयः—अतिक्रमणीयः? न केनापीत्यर्थः।

अनुवाद—यद्यपि यह (चन्द्रमा) अमृत का खजाना है, संजीवनी आदि ओषधियों का स्वामी है, सौ वैद्यों से घिरा रहता है और स्वयं शिव के शिर का भूषण है तथापि इस चन्द्रमा को भी राजयक्ष्मा रोग नहीं छोड़ता—इसे भी धर दबाता है। अथवा भाग्य का लिखा—विधि के विधान को कौन मिटा सकता है? (दुर्भाग्य के फल को कौन लांघ सकता है?)

Though he is the repository of ambrosia, and the lord of herbs; though he is followed by hundred physicians (or the constellation Satabhisak) and is the crest ornament of the head of Lord Shiva, yet consumption does not spare the moon, or who can transgress the ordinance (consequence) of accursed fate?

संस्कृत-भावार्थ—दुर्भाग्यपरिणामं कोऽपि लङ्घयितुं न समर्थः। चन्द्रमेव पश्य, अयं हि अमृतस्य निधानम्, संजीवन्याद्योषधीनां नायकः, शतवैद्यैरावृतः, भगवतः शङ्करस्य मस्तके निवसति, तथाप्येनं राजयक्ष्मरोगो न त्यजति।

टिप्पणी—(१) अमृतनिधानम्—अमृत का कोश। निधीयते अस्मिन् इति निधानम् नि√धा+ल्युट् अधिकरणे। अमृतस्य निधानम् (ष० त०)। (२) ओषधीनाम्—संजीवनी आदि ओषधियों का। ओषः पाकः धीयते अत्र इति ओषधयः ओष√धा+कि, तासाम्। (३) नेता—नायक। √नी+तृच्। चन्द्रमा सभी ओषधियों का स्वामी माना जाता है। (४) शतभिषगनुयातः—सैकड़ों वैद्यों या शतभिषा नक्षत्र से घिरा हुआ। शतं भिषजः (कर्म० स०), शतभिषग्भिः अनुयातः (तृ० त०) अथवा शतभिषजा शतभिषानक्षत्रेण अनुयातः (तृ० त०)। शतभिषा नक्षत्र सत्ताइस नक्षत्रों में से चौबीसवाँ है। इसमें सौ तारों की स्थिति मानी जाती है। (५) शम्भुमूर्ध्नः—शिव के मस्तक का। शम्भोः मूर्धा (ष० त०), तस्य। (६) अवतंसः—आभूषण। अव√तंस्+घञ्। (७) राजयक्ष्मा—क्षयरोग। राज्ञः चन्द्रस्य यक्ष्मा इति राजयक्ष्मा (ष० त०) अथवा यक्ष्मणां रोगाणां राजा इति राजयक्ष्मा 'राजदन्तादिषु परम्' इत्यनेन राजशब्दस्य पूर्वपदत्वम् अथवा राजा चासौ यक्ष्मा च इति राजयक्ष्मा (कर्म० स०), 'अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुरोगमः। राजयक्ष्मा क्षयोऽशेषरोगराडिति च स्मृतः॥' 'नक्षत्राणां द्विजानां च राज्ञोऽभूद्यदयं पुरा, यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः'। (८) हतविधिपरिपाकः—दुर्भाग्य के परिणाम को। हतः विधिः (कर्म० स०), तस्य परिपाकः नियोगः विधानं वा (ष० त०)।

इस श्लोक में मालिनी छन्द है। छन्द का लक्षण—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः'।

भाग्य जो न करे—

> प्रियसख ! विपद्दण्डाघातप्रपातपरम्परा-
> परिचयचले चिन्ताचक्रे निधाय विधिः खलः।
> मृदमिव बलात्पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालवद्
> भ्रमयति मनो नो जानीमः किमत्र विधास्यति ॥८९॥

अन्वयः—हे प्रियसख ! खलः विधिः प्रगल्भकुलालवत् मनः मृदम् इव बलात् पिण्डीकृत्य विपद्दण्डाघातप्रपातपरम्परापरिचयचले चिन्ताचक्रे निधाय भ्रमयति, अत्र किम् विधास्यति इति नो जानीमः ।

संस्कृत-भावार्थ—प्रियसख—प्रियमित्र !, खलः—दुष्टः, विधिः—ब्रह्मा, प्रगल्भकुलालवत्—प्रगल्भः चतुरः कुलालः कुम्भकारः तद्वत्, मनः—चित्तं, मृदम् इव—मृत्तिकाम् इव, बलात्—हठात्, पिण्डीकृत्य—कपालीकृत्य, विपद्दण्डाघात-प्रपातपरम्परापरिचयचले—विपद विपत्तिः एव दण्डः तस्य आघाताः प्रहाराः तेषां प्रपाताः अतिशयपतनानि तेषां परम्परा पुनरावृत्तिः तस्याः परिचयः संस्तवः तेन चलति इति चलं गमनशीलं तादृशे, चिन्ताचक्रे—चिन्ता एव चक्रं तस्मिन्, निधाय—स्थापयित्वा, भ्रमयति—आघूर्णयति, अत्र—भ्रमणे, किं विधास्यति—किं करिष्यति, इति, नो—नहि, जानीमः—विद्मः ।

अनुवाद—प्रिय मित्र ! दुष्ट ब्रह्मा ढीठ कुम्हार की भाँति मेरे चित्त को माटी का लोंदा (मृत्पिण्ड) बना कर चिन्तारूपी चाक पर उसे चढ़ा कर विपत्तिरूपी डण्डे की मार से घुमा (नचा) रहा है। मैं नहीं जानता, वह क्या करेगा । कैसी-कैसी विपत्ति मुझ पर पड़ेगी, मैं नहीं जानता ।

Dear friend, wicked fate, like a skilful potter, having perforce rolled our mind, like a lump of clay, whirls it round and round by placing it on the wheel of anxiety, revolving on, being driven by the series of the fall of the strokes of the rod in the form of adversity, we do not know what fate will do in this matter.

संस्कृत-भावार्थ—कुम्भकारो यथा मृत्पिण्डं चक्रे संस्थाप्य दण्डेन नर्तयति तथैव विधिरपि मानवमनः बहुविधासु चिन्तासु निक्षिप्य विपद्दण्डप्रहारैः तद् बहुशो नर्तयति पीडयति च ।

टिप्पणी—(१) प्रियसख—हे प्रिय मित्र ! प्रियश्चासौ सखा च इति प्रियसखः (कर्म० स०), प्रियसखि+टच् 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इत्यनेन=प्रियसखः, तत्सम्बोधने । (२) प्रगल्भकुलालवत्—प्रौढ़ कुम्हार की तरह । प्रगल्भः कुलालः (कर्म० स०), तेन तुल्यः प्रगल्भकुलाल+वति । (३) पिण्डीकृत्य—गोला बना कर । अपिण्डं पिण्डं करोति इति पिण्ड+च्वि, ईत्व√कृ+क्त्वा—ल्यप्, तुक्

आगम। (४) विपद्दण्डाघातप्रपातपरम्परापरिचयचले—विपत्ति रूपी डंडे के गिरने की परम्परा के परिचय से चलायमान। विपत् एव दण्डः (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकरूपसमासः), तस्य आघाताः (ष० त०), तेषां प्रपाताः (ष० त०), तेषां परम्परा (ष० त०), तस्याः परिचयः (ष० त०), तेन चलम् (तृ० त०), तस्मिन्। यह 'चिन्ताचक्रे' का विशेषण है। चलतीति चलम् √चल्+अच् पचादित्वात्। (५) चिन्ताचक्रे—चिन्ता रूप चक्र पर। चिन्ता एव चक्रम् (मयू० रूपकरूपस०), तस्मिन्।

इस श्लोक में उपमा अलंकार है और हरिणी छन्द है। हरिणी का लक्षण—'नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता'।

सत्पुरुष को कोई धैर्यच्युत नहीं कर सकता—

विरम विरमायासादस्माद्दुरध्यवसायतो
विपदि महतां धैर्यध्वंसं यदीक्षितुमीहसे।
अयि! जडविधे! कल्पापायेऽप्यपेतनिजक्रमाः
कुलशिखरिणः क्षुद्रा नैते न वा जलराशयः ॥९०॥

अन्वयः—अयि जडविधे! अस्मात् दुरध्यवसायतः आयासात् विरम विरम, यत् विपदि महतां धैर्यध्वंसम् ईक्षितुम् ईहसे, कल्पापाये अपि एते कुलशिखरिणः क्षुद्राः सन्तः अपेतनिजक्रमाः न; न वा जलराशयः (तादृशः)।

संस्कृत-व्याख्या—अयि जडविधे—मतिमन्ददैव!, अस्मात्—क्रियमाणात्, दुरध्यवसायतः—दुष्टः अध्यवसायः उद्योगः यस्मिन् सः तस्मात्, आयासात्—प्रयासात्, विरम विरम—आभीक्ष्ण्येन विरतो भव, यत्, विपदि—आपदि, महतां—महात्मनां, धैर्यध्वंसं—धैर्यभ्रंशम्, ईक्षितुं—द्रष्टुम्, ईहसे—इच्छसि। कल्पापाये अपि—कल्पान्ते अपि, एते, कुलशिखरिणः—कुलपर्वताः, क्षुद्राः—नीचाः (सन्तः) अपेतनिजक्रमाः—विनष्टमर्यादाः, न (भवन्ति), न वा जलराशयः—समुद्राः (तादृशाः) अथवा एते—महापुरुषाः, कल्पापायेऽपि—कल्पान्तेऽपि, अपेतनिजक्रमाः—अतिक्रान्तस्वमर्यादाः, कुलशिखरिणः—कुलपर्वताः, न, न वा जलराशयः—समुद्राः (सन्ति) अर्थात् कुलपर्वताश्च समुद्राश्च कल्पान्ते स्वस्वमर्यादां त्यजन्ति परन्तु एते महापुरुषाः महासंकटेऽपि स्वमर्यादां न त्यजन्ति।

अनुवाद—रे मतिमन्द विधि ! तू जो विपत्तिकाल में महापुरुषों का धैर्य-नाश देखने की चेष्टा करता है, अपने उस दुष्ट प्रयास को छोड़ो। कल्पान्त होने पर भी कुलपर्वत और समुद्र इतने छोटे नहीं होते कि अपनी मर्यादा को लाँघ जायें।

O fate ! if you desire to see the fortitude of the magnanimous giving way in adversity, desist, please desist from this endeavour, your wicked pursuit. O block-headed fate ! even at the time of the final destruction of the world, neither the Kula mountains nor the oceans are so mean as to transgress their usual bounds *i. e.* they remain within their bounds. Or O ye block-head, they are not meanminded Kula-mountain or the oceans, who transgress their bounds at the time of destruction of the creation.

संस्कृत-भावार्थ—कुलपर्वताश्च समुद्राश्च कल्पान्ते स्वमर्यादां परित्यजन्ति, परन्तु एते महापुरुषाः विपत्तावपि धैर्यं न परित्यजन्ति अथवा यथा कल्पान्ते कुलपर्वताः सप्तसमुद्राश्च स्वमर्यादां न परित्यजन्ति तथैव इमे महापुरुषाः विपत्तावपि स्वधैर्यं न परित्यजन्ति। महता धैर्येण कार्यं सम्पादयन्ति संकटैश्च सह युध्यन्तः तेषां पारं गच्छन्ति। संकटेभ्यो भीता न भवन्ति।

टिप्पणी—(१) दुरध्यवसायतः—दुष्ट चेष्टा वाले। अधि-अव√सो+घञ् =अध्यवसायः। दुष्टः अध्यवसायः यस्मिन् सः (ब० स०), तस्मात्, दुरध्यवसाय +तस्। यह 'आयासात्' का विशेषण है। (२) आयासात्—प्रयास या प्रयत्न से। आ√यस्+घञ्=आयासः, तस्मात् 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' इति वार्तिकेन 'विरम' इति योगे अपादाने पञ्चमी। (३) धैर्यध्वंसम्—धैर्य का नाश। √ध्वंस्+घञ्=ध्वंसः, धैर्यस्य ध्वंसः (ष० त०), तम्। यह 'ईक्षितुम्' का कर्म है। (४) कल्पापाये—कल्पान्त या प्रलय में। कल्पस्य सृष्टेः अपायः नाशः (ष० त०), तस्मिन्। (५) कुलशिखरिणः—कुलपर्वत। सात कुलपर्वत माने जाते हैं—'महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥' अपेतनिजक्रमाः—जिनकी अपनी मर्यादा नष्ट हो चुकी हो या जो सीमा का उल्लंघन कर चुके हों। अपेताः नष्टाः निजक्रमाः निजमर्यादाः येषां ते अपेतनिजक्रमाः (ब० स०)। जलराशयः—समुद्र। समुद्र भी सात माने जाते हैं—'लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिक्षीरजलार्णवाः'। श्लोक का भाव यह है कि कुलाचल या समुद्र प्रलयकाल में अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर देते हैं किन्तु सज्जन

प्रलय में भी अमर्यादित नहीं होते। तुलना कीजिए—'गिरयो गुरवस्तेभ्योऽप्युर्वी गुर्वी ततोऽपि जगदण्डम्। तस्मादप्यतिगुरवः प्रलयेऽप्यचला महात्मानः ।।'

इस श्लोक में व्यतिरेक या दृष्टान्त अलंकार है और हरिणी छन्द है।

भाग्य में जितना लिखा है उतना ही मिलता है—

दैवेन प्रभुणा स्वयं जगति यद्यस्य प्रमाणीकृतं
तत्तस्योपनमेन्मनागपि महान्नैवाश्रयः कारणम् ।
सर्वाशापरिपूरके जलधरे वर्षत्यपि प्रत्यहं
सूक्ष्मा एव पतन्ति चातकमुखे द्वित्राः पयोबिन्दवः ।।६१।।

अन्वयः—प्रभुणा दैवेन जगति यस्य यत् स्वयम् प्रमाणीकृतम् तत् तस्य स्वयम् उपनमेत्, महान् आश्रयः मनाक् अपि नैव कारणम्। सर्वाशापरिपूरके जलधरे प्रत्यहम् वर्षति अपि चातकमुखे सूक्ष्माः एव द्वित्राः पयोबिन्दवः पतन्ति।

संस्कृत-व्याख्या—प्रभुणा—समर्थेन, दैवेन—भाग्येन, जगति—संसारे, यस्य—नरस्य, यत्—वस्तु, स्वयं—साक्षात्, प्रमाणीकृतं—निर्दिष्टम्, तत्—वस्तु, स्वयं—तस्य—नरस्य, विना कस्यापि साहाय्येन, उपनमेत् संगच्छेत्, महान् आश्रयः—महतां साहाय्यं, मनाक् अपि—ईषदपि, नैव, कारणं—साधनम्। सर्वाशापरिपूरके—सर्वेषां सकलानां (लोकानाम्) आशा मनोरथः तस्य परिपूरकः दायकः तथाभूते, जलधरे—मेघे, प्रत्यहं—प्रतिदिनं, वर्षति अपि, चातकमुखे—चातकस्य पक्षिणः मुखे वदने, सूक्ष्माः—अत्यल्पाः, एव, द्वित्राः—द्वौ वा त्रयो वा, पयोबिन्दवः—जलकणाः, पतन्ति।

अनुवाद—सर्वशक्तिमान् दैव ने जिसको जितनी वस्तु अपने आप लिख दी है, उसको वह वस्तु उतनी मिलेगी ही। बड़ा आश्रय इसका तनिक भी कारण नहीं। सबों की आशा पूरी करने वाला मेघ प्रतिदिन बरसता रहता है तो भी चातक के मुंह में दो ही तीन बूंदें गिरती हैं।

Whatever is allotted to a man by all powerful Destiny, presents itself to him. Great patronage is not at all the cause (of his getting anything). Though the cloud, the fulfiller of the desires of all, showers rain everyday, still only two or three small drops of water fall into the mouth of the Chataka bird.

संस्कृत-भावार्थ—विधिना संसारे यस्य प्राणिनः कृते यद् वस्तु निर्दिष्टं तत् स प्राणी अवश्यं प्राप्नोति, ततोऽधिकं न्यूनं वा स नैव प्राप्नोति, नापि तत्र महताम् आश्रयः कारणम् । अतएव महतां नरपतीनामाश्रयं लब्ध्वापि भाग्यहीनो नरः आजीवनं निर्धनः एव तिष्ठति, महताम् आश्रयं विनापि भाग्यशाली जनः यथेष्टां समृद्धिं लभते । तथैव मेघाः जलदानेन सर्वान् तोषयन्ति हतभाग्यः चातकः एव ईदृशः अस्ति यं ते अपि तोषयितुं न शक्नुवन्ति ।

टिप्पणी—(१) **प्रभुणा**—शक्तिशाली । प्रभवति इति प्रभुः प्र√भू+डु (उणादि), तेन । (२) **प्रमाणीकृतम्**—प्रमाणित किया है अर्थात् नियत किया है । अप्रमाणम् प्रमाणं कृतम् इति प्रमाण+च्वि√कृ+क्त, ईत्व । (३) **उपनमेत्**—उपलब्ध होती या मिल जाती है । उप√नम्+विधिलिङ् संभावनायाम् । तुलना कीजिए—'कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा' (उ० मेघ) । (४) **महान् आश्रयः मनाक् अपि नैव कारणम्**—बड़ा आश्रय या बड़े लोगों का सहारा कुछ भी कारण नहीं है । तात्पर्य यह है कि भाग्य में जितना लिखा है, उतना ही मिलता है और वह अवश्य मिलता है । उसके मिलने में बड़े लोगों का आश्रय कोई कारण नहीं होता है । (५) **सर्वाशापरिपूरके**—सभी या सबके मनोरथ पूर्ण करने वाले । सर्वाः आशाः (कर्म० स०), तासां परिपूरकः (ष० त०), तस्मिन् । अथवा सर्वेषाम् आशाः, तासाम् परिपूरकः (ष० त०), तस्मिन् । (६) **जलधरे**—मेघ । धरतीति धरः√धृ+अच् पचादित्वात्, जलस्य धरः जलधरः (ष० त०), तस्मिन् । अत्र भावे सप्तमी । (७) **प्रत्यहम्**—प्रतिदिन । अहनि अहनि इति प्रत्यहम् (अव्य० स०) 'अनश्च', 'नपुंसकादन्यतरस्याम्' इत्यनेन समासान्तः टच्प्रत्ययः । (८) **द्वित्राः**—दो या तीन । द्वौ वा त्रयो वा इति द्वित्राः (वार्थे बहुव्रीहिः) 'संख्यया अव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये' इत्यनेन । 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्' इत्यनेन डच्प्रत्ययः, ततो बहुवचनत्वम् 'तत्र युक्ते बहुवचनम्' इति भाष्यकारः ।

इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

अथ कर्मपद्धतिः

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।

फलं कर्मायत्तं यदि किमपरैः किं च विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥९२॥

अन्वयः—देवान् नमस्यामः, ते अपि हतविधेः वशगाः ननु, विधिः वन्द्यः सः अपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः, यदि फलम् कर्मायत्तम्, तर्हि अपरैः किम् ? विधिना च किम् ? तत् कर्मभ्यः नमः, येभ्यः विधिः अपि न प्रभवति ।

संस्कृत-व्याख्या—देवान्—इन्द्रादीन्, नमस्यामः—नमस्कुर्मः, ते अपि—देवाः अपि, हतविधेः—दुष्टस्य विधातुः, वशगाः—अधीनाः, ननु—खलु । वन्द्यः—पूज्यः, सः अपि—विधिः अपि, प्रतिनियतकर्मैकफलदः—प्रतिनियतं निर्णीतं यत् कर्मैकफलं तत् ददातीति प्रतिनियतकर्मैकफलप्रदः (अस्ति), यदि—चेत्, फलं, कर्मायत्तं—कर्माधीनं, (तर्हि) अपरैः—देवैः, किम् ? विधिना—ब्रह्मणा, च, किम् ? तत्—तस्मात् कारणात्, कर्मभ्यः—प्रयत्नरूपेभ्यः कार्येभ्यः, नमः—नमस्कारोऽस्तु, येभ्यः—कर्मभ्यः, विधिः अपि—ब्रह्मा अपि, न, प्रभवति—प्रभवो भवति ।

अनुवाद—देवताओं को प्रणाम करता हूँ, पर वे भी दुष्ट विधि के वश में हैं । तब वह विधि ही वन्दनीय है, पर वह भी कर्म के अनुसार ही निश्चित फल देता है । यदि फल कर्म ही पर निर्भर है, तब दूसरों की क्या ज़रूरत ? विधि से भी क्या प्रयोजन ? इसलिए कर्म को ही प्रणाम, जिस पर विधि का भी कुछ भी वश नहीं चलता ।

We salute gods, they, too are subject to accursed; the fate ought to be worshipped; but even fate gives only the well-adjusted fruit of one's action. If the fruit be dependent on one's actions. what to do with gods or what with our destiny? Therefore all our of obeisance to action; which even fate cannot prevail.

संस्कृत-भावार्थ—सर्वं कर्तुं समर्था ये देवा मन्यन्ते ते अपि विधिमतिक्रम्य न किमपि कर्तुं शक्नुवन्ति । विधिश्च कर्मानुरूपमेव फलं दत्ते, न ततोऽधिकं न्यूनं वा । अतो देवान् विधिं चोपेक्ष्य कर्मभ्य एव नमस्यामः । यतो हि देवानां प्रभुरपि विधिः कर्मवशगः ।

टिप्पणी—(१) नमस्यामः—नमस्कार करें । नमः कुर्मः इति नमस्यामः नमस्+क्यच् 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' इत्यनेन,√नमस्य (नामधातु) +लट्—

मस् । यहाँ 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इस परिभाषा के बल से 'देवान्' में द्वितीया ही हुई 'नमः' पद के योग में चतुर्थी नहीं हुई। (२) हतविधेः—नीच विधाता के। हतः विधि. (कर्म० स०), तस्य। सम्बन्धे षष्ठी। (३) वशगाः—अधीन । वशं गच्छन्ति इति वशगाः वश√गम्+ड । (४) प्रतिनियतकर्मैकफलदः—जो कर्म के अनुसार ही निश्चित फल देता है । एकं केवलं फलम् इति एकफलम् (कर्म० स०) 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' इत्यनेन । कर्मणः एकफलम् इति कर्मैकफलम् (ष० त०), प्रतिनियतं कर्मैकफलम् इति (कर्म० स०), प्रतिनियतकर्मैकफलं ददातीति प्रतिनियतकर्मैकफलदः, प्रतिनियतकर्मैकफल√दा+क, उपपद स० । (५) अपरैः, विधिना—अत्र करणे तृतीया । 'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' । अपरैः किं साध्यम् ? साधनक्रियां प्रति करणत्वम् । (६) कर्मभ्यः—अत्र नमः शब्दयोगे चतुर्थी 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च इत्यनेन। (७) येभ्यः—अत्रापि 'नमः स्वस्ति—' इत्यनेन अलमर्थयोगे चतुर्थी। प्रभवति=प्रभुः भवति, अलम्। प्रभ्वादियोगे षष्ठी अपि साधुः; तस्मै प्रभवति। 'प्रभुः बुभूषुः भुवनत्रयस्य' इति सिद्धम् । सि० कौ० ।

इस श्लोक में पूर्व पूर्व वाक्य उत्तरोत्तर वाक्य के प्रति उत्कर्षकारक है, इसलिए मालादीपक अलंकार है । किन्हीं के मत से सार अलंकार है। 'उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारावधिः' । इसमें शिखरिणी छन्द है।

कर्म की महिमा—

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं सेवते
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥९३॥

अन्वयः—येन (कर्मणा) ब्रह्मा ब्रह्माण्डभाण्डोदरे कुलालवत् नियमितः, येन विष्णुः दशावतारगहने महासंकटे क्षिप्तः; येन रुद्रः कपालपाणिपुटके भिक्षाटनम् सेवते, सूर्यः (च) नित्यम् एव गगने भ्राम्यति, तस्मै कर्मणे नमः ।

संस्कृत-व्याख्या—येन—कर्मणा, ब्रह्मा—विधाता, ब्रह्माण्डभाण्डोदरे—ब्रह्माण्डम् सम्पूर्णविश्वम् एव भाण्डम् पात्रम् तस्य उदरे अभ्यन्तरे, कुलालवत्—कुम्भ-

कार इव, नियमितः—नियोजितः, येन—कर्मणा, विष्णुः—पुरुषोत्तमः, दशावतारगहने—दशभिः अवतारैः गहनं विषमं तस्मिन्, महासंकटे—घोरकृच्छ्रे, क्षिप्तः—पातितः नियोजित इत्यर्थः, येन—कर्मणा, रुद्रः—शिवः, कपालपाणिपुटके—कपालं ब्रह्मशिरः एव पाणिपुटकम् तस्मिन्, भिक्षाटनं—भिक्षार्थभ्रमणं, सेवते—करोति, सूर्यः—आदित्यः (च) नित्यमेव—निरन्तरमेव, गगने—आकाशे, भ्राम्यति—अटति, तस्मै—सकलनियन्त्रे, कर्मणे—कार्यविशेषाय, नमः—नमस्कारोऽस्तु ।

अनुवाद—उस कर्म को नमस्कार है जिसने ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड रूपी बर्तन को बनाने मे कुम्हार के जैसा नियुक्त किया, जिसने विष्णु को दश अवतार धारण करने के महासंकट में डाल दिया, जिसने शिव से नर-मुण्ड हाथ मे लेकर भीख मँगाई और जो सूर्य से नित्य आकाश में चक्कर लगवाता है ।

Salutation to that action, by whom Brahma was employed like a potter in the interior (lit. belly) of the pot-like mundane egg. (*i e* Universe); by whom Vishnu was thrown into a great fix, painful on account of ten incarnations; by whom Rudra was made to resort to begging Skull in hand; and (in obedience to whom) the sun constantly roams about in the sky.

संस्कृत-भावार्थ—कर्मवशादेव ब्रह्मा नियतरूपेण जगन्निर्माति, विष्णुः दशसु मत्स्याद्यवतारेषु कष्टं सहते, महेशः कपालजटितेन पाणिना भिक्षार्थं पर्यटति, सूर्योऽपि प्रत्यहं निरवकाशे वियति भ्रमणं करोति । एतेऽपि येन नियुक्ताः तस्मै सर्वनियन्त्रे कर्मणे नमोऽस्तु ।

टिप्पणी—(१) ब्रह्माण्डभाण्डोदरे—संसार रूपी बर्तन के अन्दर । ब्रह्माण्डम् एव भाण्डम् (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकरूप स०), तस्य उदरम् (ष० त०), तस्मिन् (२) कुलालवत्—कुम्हार की तरह । कुलालेन तुल्यः इति कुलाल+वति 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इत्यनेन । ब्रह्मा संसार की सृष्टि करते हैं । मनुस्मृति के अनुसार जब ब्रह्मा को सृष्टि करने की इच्छा हुई तब उन्होंने सबसे पहले जल की सृष्टि की । उस जल में एक सोने का अंडा तैरने लगा । जब वह अंडा फूटा तो उससे ब्रह्मा निकले । उन्होने इस संसार की रचना की । (३) नियमितः—नियन्त्रित कर दिया है । नि√यम्+णिच्+क्त । (४) विष्णुः—

√विश्+नु (उणादि)। 'यस्मात् विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः। तस्मादेवोच्यते विष्णुः विशधातोः प्रवेशनात्' ॥ दुर्वासा ने विष्णु को शाप दिया था कि तुम दस बार पृथ्वी पर अवतीर्ण होगे—'यस्मात्ते जानतो धर्ममवध्या स्त्री निषूदिता। तस्मात्त्वं सप्तकृत्वेह मानुषेषूपपत्स्यते। ततस्तेनाभिशापेन नष्टे धर्मे पुनः पुनः। लोकस्य च हितार्थाय जायते मानुषेष्विह ॥' (मत्स्यपुराण १०,३०, ७। १०३—४)। (५) दशावतारगहने—दस अवतारों के कारण विषम या भयंकर। दस अवतार ये हैं—'मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः। रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश ॥' दश अवताराः (कर्म० स०), तैः गहनं विषमं कष्टकरं वा (तृ० त०)। यह 'महासंकटे' का विशेषण है। अथवा दशावताराः एव गहनम् अरण्यम् (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकरूप स०), तस्मिन्। इस पक्ष में यह विशेष्य होगा और 'महासंकटे' विशेषण। तब 'महासंकटे' का अर्थ होगा—भारी कष्टदायक। अव√तॄ+घञ् 'अवे तॄस्त्रोर्घञ्' इत्यनेन=अवतारः। वामन के मत से 'अवतर' शब्द शुद्ध है। अव√तॄ+अप् 'ऋदोरप्' इत्यनेन। 'अवतरावचयशब्दयोः दीर्घव्यत्यासो बालानाम्' इति वामनः। (६) महासंकटे—भारी संकट या विपत्ति में। महत् संकटम् (कर्म० स०), तस्मिन्। (७) रुद्रः—शिव। रोदयति असुरान् इति रुद्रः√रुद्+र (उणादि)। श्रुति कहती है—'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तत् रुद्रस्य रुद्रत्वम्। (८) कपालपाणिपुटके—कपाल (खोपड़ी) को दोनों हाथों से थामकर। पाणिः एव पुटकम् (मयू० रूपकरूप स०) पुटक=पुड़िया, दोना। कपालसहितं पाणिपुटकम् (मध्य० स०), तस्मिन्। स्कन्द पुराण के अनुसार शंकर खोपड़ी हाथ में लेकर भिक्षा-याचना करते हैं। (९) कर्मणे—अत्र नमः शब्दयोगे 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च' इति सूत्रेण चतुर्थी।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

सत्कर्म की स्पृहणीयता—

या साधूंश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खान्हितान्द्वेषिणः
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात्।
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितम्
हे साधो ! व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः ॥९४॥

अन्वयः—या (सत्क्रिया) खलान् साधून् करोति मूर्खान् विदुषः, द्वेषिणः हितान्, परोक्षम् प्रत्यक्षम् कुरुते, हालाहलम् तत्क्षणात् अमृतम् कुरुते । हे साधो! वाञ्छितम् फलम् भोक्तुम् ताम् भगवतीम् सत्क्रियाम् आराधय । व्यसनैः विपुलेषु गुणेषु वृथा आस्थाम् मा कृथाः ।

संस्कृत-व्याख्या—या—सत्क्रिया, खलान्—दुर्जनान्, साधून्—सज्जनान्, करोति—विदधाति, मूर्खान्—अपण्डितान्, विदुषः—पण्डितान् (करोति), द्वेषिणः—शत्रून्, हितान्—सुहृदः (करोति), परोक्षम्—अतीन्द्रियं वस्तु, प्रत्यक्षम्—इन्द्रियगोचरं, कुरुते—विधत्ते, हालाहलं—विषम्, तत्क्षणात्—सद्यः एव, अमृतं—पीयूषं (कुरुते), हे साधो—हे सज्जन! वाञ्छितम्—अभीष्टं, फलं, भोक्तुं—साधयितुं, तां—प्रक्रान्तां, भगवती—सर्वशक्तिमती, सत्क्रिया—सत्कर्म, आराधय—पूजय । व्यसनैः—विपत्तिभिः, विपुलेषु—भूयिष्ठेषु, गुणेषु—विद्वत्तादिषु, वृथा—व्यर्थम्, आस्थां—विश्वासं, मा कृथाः—न कुरु ।

अनुवाद—जो सत्क्रिया दुष्ट को साधु, मूर्ख को विद्वान्, द्वेषियों को हितैषी, परोक्ष को प्रत्यक्ष और विष को तुरंत अमृत बना देती है, हे सज्जनवृन्द! अपने वाञ्छित फल को भोगने के लिये उसी भगवती सत्क्रिया की आराधना कीजिए, कठिनाइयों से भरे गुणों में अनुरात मत होइए ।

O goodman to enjoy your desired fruit, worship that goddess the virtuous action that changes the wicked into the good, fools into the learned, foes into friends, the thing past our senses into a thing comprehensible to senses and the deadly poison into nectar in an instant. Do not have vain attachment for others qualities full of difficulties.

संस्कृत-भावार्थ—सकलाभीष्टसिद्धिरभिलष्यते चेत् सत्कार्यकरणप्रक्रियाया अभ्यासो विधेयः, नश्वराणा गुणानामर्जने व्यर्थमेव प्रयासो न कर्त्तव्य. । यतो हि सैव सत्क्रिया सकलगुणानां खनिरित्यवधेयम् ।

टिप्पणी—(१) द्वेषिणः—शत्रुओं को । √द्विष्+णिनि कर्तरि । (२) हितान्—हितैषी । हितं प्रयोजनम् अस्ति एषाम् इति हिताः हित+अच्, तान् । 'हितान्न यः संशृणुते स किं प्रभुः' (किरा० १, ५) । (३) परोक्षम्—इन्द्रियो से ओझल पदार्थ को । अक्ष्णोः परम् इति परोक्षम् (अव्य० स०), समासान्त-

टच्प्रत्ययः, 'परोक्षे लिट्' इति पाणिनिसूत्रनिपातनात् ओत्वम् । (४) प्रत्यक्षम—इन्द्रियों के गोचर । अक्ष्णोः प्रति अभिमुखम् इति (अव्य० स०), 'प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः' इत्यनेन समासान्तटच्प्रत्ययः । समास में अक्षि शब्द का अर्थ इन्द्रियमात्र हो जाता है—'वृत्तिविषये अक्षिशब्दः इन्द्रियमात्रपरः' इति तत्त्वबोधिनी । (५) हालाहलम्—विष । (६) व्यसनैः विपुलेषु—विपत्तियों से भरे हुए । (७) आस्थाम्—विश्वास या प्रयत्न । मा कृथाः—मत करो । √कृ+लुङ् ('माङि लुङ्' इत्यनेन)—थास्, 'न माङ्योगे' इत्यनेन अडागमनिषेधः ।

इस श्लोक में विशेष अलंकार और शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

शुभ्रं सद्म सविभ्रमा युवतयः श्वेतातपत्रोज्ज्वला
लक्ष्मीरित्यनुभूयते चिरमनुस्यूते शुभे कर्मणि ।
विच्छिन्ने नितरामनङ्गकलहक्रीडात्रुटत्तन्तुकं
मुक्ताजालमिव प्रयाति झटिति भ्रश्यद्दिशो दृश्यताम् ॥९५॥

अन्वयः—शुभे कर्मणि चिरम् अनुस्यूते (सति) शुभ्रम् सद्म, सविभ्रमाः युवतयः श्वेतातपत्रोज्ज्वला लक्ष्मीः इति (सर्वम्) अनुभूयते विच्छिन्ने (सति) नितराम् अनङ्गकलहक्रीडात्रुटत्तन्तुकम् मुक्ताजालम् इव भ्रश्यत् (सद्मादिकम्) झटिति दिशः प्रयाति इति दृश्यताम् ।

संस्कृत-व्याख्या—शुभे कर्मणि—सुकृते, चिरं—दीर्घकालम्, अनुस्यूते—संलग्ने अनुकूले सति इत्यर्थः, शुभ्रं सद्म—सौधं, सविभ्रमाः—सविलासाः, युवतयः—तरुण्यः, श्वेतातपत्रोज्ज्वलाः—श्वेतातपत्रेण श्वेतच्छत्रेण उज्ज्वला देदीप्यमाना, लक्ष्मीः—श्रीः, इति (सर्वम्), अनुभूयते—अनुभुज्यते, विच्छिन्ने—नष्टे शुभकर्मणि (तु), नितरां—सुतराम्, अनङ्गकलहक्रीडात्रुटत्तन्तुकम्—अनङ्गकलहः रतिरणः स एव क्रीडा केलिः तया हेतुना त्रुटन् तन्तुः यस्य तत् तथोक्तं, मुक्ताजालम्—मुक्ताहारः, इव—यथा, भ्रश्यत्—नश्यत्, (सद्मादिकं) झटिति—शीघ्रं, दिशः प्रयाति—अन्तर्हितं भवति, इति, दृश्यताम्—अवलोक्यताम् ।

अनुवाद—बढ़िया घर, विलासिनी युवतियाँ, श्वेत छत्र से चमचमाती हुई राजलक्ष्मी—ये सब तब तक ही भोगे जाते हैं जब तक (अपना किया) शुभ कर्म चलता रहता है । परन्तु देखो, जब यह (कर्म) विच्छिन्न हो जाता, घट

जाता है—तब ये सबके सब चारों दिशाओं में उसी तरह विलीन हो जाते हैं, जिस तरह रतिक्रीडा में टूट जाने से हार के मोती के दाने इधर-उधर बिखर जाते हैं।

When good luck continues long to be favourable (lit uninterrupted), a splendid mansion, amorous damsels and prosperity all bright with the white umbrella,—all this is enjoyed well, but when it is unfavourable (lit. snapped *i. e.* interrupted); behold all these vanish altogether in all directions like a necklace of pearls, whose string is broken in the sport of love-puarrel.

संस्कृत-भावार्थ—नरस्य पुण्ये कर्मणि अनुकूले सति तरुणीप्रासादलक्ष्म्यादिसकलभोगपदार्थाः करतलगतास्तिष्ठन्ति किन्तु नष्टे सति शुभकर्मणि त एव पदार्थाः तस्मान्नरात् तथैव दूरं प्रयान्ति यथा रतिक्रीडायां त्रुटितमुक्ताहारात् मुक्ताः इतस्ततो विकीर्यन्ते।

टिप्पणी—(१) शुभे कर्मणि—अच्छे कर्म के। भावे सप्तमी। पूर्वजन्मार्जित कर्म को भाग्य कहते हैं। 'पूर्वजन्मार्जितं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते'। मनुष्य को पूर्वजन्मार्जित अच्छे कर्मों का फल सुख मिलता है और बुरे कर्मों का फल दुःख। (२) अनुस्यूते—संलग्न या अनुकूल रहने पर। अनु√सिव्+क्त। (३) सविभ्रमाः—विलास या हाव-भाव से युक्त। विभ्रमैः सह वर्तमानाः इति सविभ्रमाः (तुल्ययोगे ब० स०) 'वोपसर्जनस्य' इत्यनेन सहस्य सादेशः। (४) श्वेतातपत्रोज्ज्वला—श्वेत छत्र से उज्ज्वल। श्वेत छत्र राजचिह्न है। राजा लोग इसे धारण करते थे। श्वेतम् आतपत्रम् (कर्म० स०), तेन उज्ज्वला (तृ० त०)। (५) विच्छिन्ने—नष्ट होने पर। यह लुप्त 'शुभे कर्मणि' का विशेषण है। (६) अनङ्गकलहक्रीडात्रुटत्तन्तुकम्—रतिक्रीडा में टूटे हुए धागे वाला। अनङ्गकलह: प्रणयकलहः एव क्रीडा (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकरूप स०), तया त्रुटन् (तृ० त०), तादृशः तन्तुः यस्य तत् (ब० स०), 'शेषात् विभाषा' इति कप्।

इस श्लोक में उपमा अलंकार है।

अविचारपूर्वक किये गये कार्य का परिणाम—

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कर्मजातं
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।

अतिरभसकृतानां कर्मणामा विपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥९६॥

अन्वय—गुणवत् अगुणवत् वा कर्मजातम् कुर्वता पण्डितेन परिणतिः यत्नतः अवधार्या। अतिरभसकृतानाम् कर्मणाम् विपाकः आ विपत्तेः शल्यतुल्यः हृदयदाही भवति।

संस्कृत-व्याख्या—गुणवत्—गुणयुक्तम्, वा—उत, अगुणवत्—गुणरहितम्, कर्मजातं—कार्यसमूहं, कुर्वता—विदधता, पण्डितेन—विदुषा, परिणतिः—परिणामः, यत्नतः—अतिप्रयत्नेन, अवधार्या—विचारणीया, अतिरभसकृतानाम्—अतिरभसेन सहसा कृतानाम् अनुष्ठितानां, कर्मणां—कार्याणां, विपाकः—परिणामः, आ विपत्तेः—मरणकालपर्यन्तं, शल्यतुल्यः—शल्येन बाणेन तुल्यः समानः, हृदयदाही—मनःसन्तापकारी, भवति—जायते।

अनुवाद—अच्छा या बुरा, जिस किसी काम को पण्डित लोग करें, उसका परिणाम वे पहले अच्छी तरह से सोच लें। जल्दबाजी में किये गये कामों का फल मरणपर्यन्त तीर के जैसा दिल में खटकता रहता है।

A wise man, doing all kinds of works, meritorious or immeritorious should carefully consider their consequence. The sequel of actions done in hot haste becomes poignant to the heart like a dart till death.

संस्कृत-भावार्थ—विदुषा समीचीनमसमीचीनं वा यत् किमपि क्रियते तद् विचार्यैव कर्तव्यम्, अन्यथा त्वरयाऽविचार्य कृतस्य कर्मणः फलमाजीवनं कष्टकरं भवति।

टिप्पणी—(१) गुणवत्—गुणों से युक्त। गुणाः सन्ति अस्मिन् इति गुण+मतुप्=गुणवत् 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' इत्यनेन मस्य वः। यह 'कर्मजातम्' का विशेषण है। (२) कर्मजातम्—कर्मसमूह या कार्यकलाप। कर्मणां जातम् (ष० त०)। (३) परिणतिः—फल। परि√नम्+क्तिन्। (४) यत्नतः—प्रयत्नपूर्वक। √यत्+नङ=यत्न+तस्। (५) अतिरभसकृतानाम्—अत्यन्त शीघ्रता में (बिना सोचे-समझे) किये गये। अतिरभसेन कृतानि (तृ० त०), तेषाम्। (६) विपाकः—परिणाम। वि√पच्+घञ्। 'अमैव जन्मान्तर-

पातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः' (रघुवंश १४, ६२)। (७) आ विपत्तेः—मरण पर्यन्त। यहाँ 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' सूत्र से विकल्प से अव्ययीभाव समास होने के कारण जब समास नहीं हुआ तब का यह रूप है। अतएव 'आविपत्ति' और 'आ विपत्तेः' दोनों रूप होते हैं। जैसे—'आमुक्ति संसारः आ मुक्तेः' (सिद्धान्तकौमुदी) विपत्ति=मृत्यु। 'तस्यास्तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोकात्' (रघु० ८, ४१)। (८) शल्यतुल्यः—काँटे की तरह। शल्येन वा शल्यस्य तुल्यः (तृ० त० वा ष० त०)। (९) हृदयदाही—हृदय को सन्ताप देने वाला। हृदयं दग्धुं शीलं यस्य स हृदयदाही हृदय√दह+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये।

इस श्लोक में मालिनी छन्द है। मालिनी का लक्षण—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः'।

सत्कर्म से विमुख होना मूर्खता है—

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति तिलखलीं चान्दनैरिन्धनौघैः
सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कतूलस्य हेतोः।
छित्त्वा कर्पूरखण्डान् वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्ता-
त्प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः॥९७॥

अन्वय—यः मन्दभाग्यः मनुजः इमाम् कर्मभूमिम् प्राप्य तपः न चरति स वैदूर्यमय्याम् स्थाल्याम् चान्दनैः इन्धनौघैः तिलखलीम् पचति, अर्कतूलस्य हेतोः सौवर्णैः लाङ्गलाग्रैः वसुधाम् विलिखति, कर्पूरखण्डान् छित्त्वा कोद्रवाणाम् समन्तात् इह वृतिम् कुरुते।

संस्कृत-व्याख्या—यः, मन्दभाग्यः—हतदैवः प्रारब्धहीन इति यावत्, मनुजः मानवः, इमां—प्रत्यक्षां, कर्मभूमिं—कर्माचरणयोग्यभूमिं, प्राप्य—लब्ध्वा, तपः—तपस्यां, न चरति—न करोति, सः—मनुजः, वैदूर्यमय्यां—वैदूर्यमणिनिर्मितायां, स्थाल्यां—पात्रे, चान्दनैः—चन्दनतरुसम्बन्धिभिः, इन्धनौघैः—काष्ठराशिभिः, तिलखलीं—तिलपिष्टं, पचति—विक्लेदयति, अर्कतूलस्य हेतोः—अर्कवृक्षस्य तूलार्थं, सौवर्णैः—सुवर्णरचितैः, लाङ्गलाग्रैः—हलमुखैः, वसुधां—भुवम्, विलिखति—कर्षति, कर्पूरखण्डान्—घनसारवृक्षसमूहान्, छित्त्वा—कर्तित्वा, कोद्रवाणां—कोरदूषाणाम् (अन्नानाम्), समन्तात्—चतुर्दिक्षु, इह—संसारे, वृतिम्—आवरणं, कुरुते—सम्पादयति।

अनुवाद—जो अभागा इस कर्मभूमि में आकर तपस्या नहीं करता वह चन्दन की लकड़ी जलाकर, मरकत मणि की वटलोही में तिल की खली पकाता है, आक की रुई उपजाने के लिये सोने के फाल से पृथ्वी को जोतता है; तथा कपूर वृक्ष को काट काट-कर कोदो के खेत में चारों ओर घेरा लगाता है।

That unlucky fellow who does not practise penance on coming to this world of action, cooks, with sandal fuel, the oil-cake of sesamum in a kettle made of Vaiduryagems, ploughs the earth with golden plough, shares for the sake of cotton of the Arka plants, cuts down the camphor trees and makes a fence of them round the Kodo-crop.

संस्कृत-भावार्थ—बहुमूल्ये वैडूर्यमणिमये पात्रे चन्दनकाष्ठं प्रज्वाल्य तिल-पिण्याकसदृशक्षुद्रपदार्थस्य पाचनम्, अर्कतूलसदृशक्षुद्रवस्तुप्राप्त्यर्थं स्वर्णनिर्मितहलाग्रेण भूमिकर्षणं तथा कर्पूरवृक्षसमूहान् कर्पूरकन्दलीकाण्डान् वा छित्त्वा कोद्रव-संरक्षणार्थं वृतिकरणं यथातिमूर्खत्वं सूचयति तथैवेह कर्मभूमौ जन्म प्राप्य मानवस्य सत्कर्माननुष्ठानमभाग्यत्वसूचकमेव भवति।

टिप्पणी—(१) वैडूर्यमय्याम्—वैडूर्यमणि की। विदूरात् प्रभवति वा विदूरे पर्वते भवम् इति वैडूर्यम् विदूर+ञ्य 'विदूराञ्ञ्यः' इत्यनेन। 'वैडूर्यं बालवायजम्' इत्यमरः। वैडूर्याणां विकारः इति वैडूर्य+मयट्+ङीप्=वैडूर्यमयी, तस्याम्। अधिकरणे सप्तमी। (२) स्थाल्याम्—वटलोई में। (३) चान्दनैः—चन्दन की। चन्दनस्य अयम् इति चन्दन+अण्। यह 'इन्धनौघैः' का विशेषण है। (४) इन्धनौघैः—लकडियों के ढेर। इन्धनानाम् ओघाः समूहाः इति इन्धनौघाः (ष० त०), तैः। करणे तृतीया। (५) तिलखलीम्—तिल की खली को। (६) अर्कतूलस्य—आक की रुई के लिए। अर्कस्य तूलम् (ष० त०) 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इत्यनेन। (७) सौवर्णैः—सोने के। सुवर्णस्य विकारः इति सुवर्ण+अण्। (८) लाङ्गलाग्रैः—हल की फाल से। लाङ्गलानाम् अग्राणि (ष० त०), तैः करणे तृतीया। (९) कर्पूरखण्डान्—कर्पूर के वृक्षों के समूहों या डालों को। कर्पूराणां खण्डाः (ष० त०), तान्। (१०) कोद्रवाणाम्—कोदों का। कोदो सांवां की जाति का एक मोटा अन्न है। 'कोरदूषस्तु कोद्रवः' इत्यमरः। (११) वृतिम्—बाड़ या घेरा। √वृ+क्तिन्।

इस श्लोक में मालानिदर्शना अलंकार है और स्रग्धरा छन्द है। स्रग्धरा का लक्षण—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्'।

भाग्य ही फल देता है—

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं
विद्यापि नैव न च यत्नकृतापि सेवा।
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु संचितानि
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥९८॥

अन्वयः—आकृतिः न एव फलति, कुलम् न एव, शीलं न, विद्या अपि न एव, यत्नकृता सेवा अपि च न, पूर्वतपसा संचितानि पुरुषस्य भाग्यानि वृक्षाः यथा काले एव फलन्ति।

संस्कृत-व्याख्या—आकृतिः—स्वरूपं, नैव, फलति—फलदायिनी भवति कुलं—वंशः, नैव (फलति), शीलं—सद्वृत्तं, न (फलति), विद्या—चतुर्दशविद्या अपि, नैव (फलति), यत्नकृता—प्रयासविहिता, सेवा अपि—परिचर्या अपि च, न (फलति), पूर्वतपसा—पुराकृतसुकृतेन, संचितानि—संगृहीतानि, पुरुषस्य—नरस्य, भाग्यानि—भागधेयानि, वृक्षाः—तरवः, यथा—इव, काले एव—समये एव, फलन्ति—फलं ददति।

अनुवाद—सुन्दर आकृति नही फलती, न कुल और न शील; न विद्या फलती और न यत्नपूर्वक की गई सेवा ही। जैसे वृक्ष के फल फलते, उसी तरह पूर्व की तपस्या से सञ्चित किये हुए मनुष्य के कर्म, जिन्हें भाग्य कहते हैं, समय पाकर फल धारण करते हैं।

A handsome form does not bear fruit, neither does grace nor character, nor even learning, nor service assiduously done. Fate, acquired by man, by means of his previous penance (in his former birth), bears fruit in time as do the trees.

संस्कृत-भावार्थ—यदि पूर्वसुकृतार्जितानि भाग्यानि न सन्ति तर्हि सुस्वरूपेण, कुलेन, शीलेन, विद्यया, सेवया च नरः न किमपि लब्धुं शक्नोति, भाग्यानि सन्ति चेत् तदा यथा स्वसमये वृक्षाः फलैः शोभन्ते तथा मनुजोऽपि धनादिभिर्युज्यते। तपोजनितभाग्यव्यतिरिक्तं फलजनकं न किञ्चिदस्तीति तात्पर्यम्।

टिप्पणी—(१) विद्या—वेद आदि चौदह विद्यायें। 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥' विदन्ति अनया इति विद्या√विद्+क्यप्+टाप्। (२) यत्नकृता—प्रयत्नपूर्वक की हुई। यत्नेन कृता (तृ० त०)। (३) सेवा—चाकरी। √सेव्+अ 'गुरोश्च हलः' इत्यनेन, ततष्टाप्। (४) पूर्वतपसा—पूर्व जन्म की तपस्या द्वारा। पूर्वं तपः (कर्म० स०), तेन। करणे तृतीया। 'पूर्वजन्मकृतं कर्म तदेव भाग्यमुच्यते'। (५) यथा—जैसे। 'इववत् वा यथाशब्दौ' इति दण्डिपादाः।

इस श्लोक के प्रथम दो चरणों में दीपक अलंकार है और 'वृक्षाः यथा' में उपमा अलंकार है। इसमें वसन्ततिलका छन्द है।

अनहोनी होती नहीं और होनी टलती नहीं—

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रूञ्जयत्वाहवे
वाणिज्यं कृषिसेवने च सकला विद्याः कलाः शिक्षताम्।
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत्कृत्वा प्रयत्नं परं
नाभाव्यं भवतीह कर्मवशगो भाव्यस्य नाशः कुतः॥६६॥

अन्वयः—अम्भसि मज्जतु मेरुशिखरम् यातु आहवे शत्रून् जयतु, वाणिज्यम् कृषिसेवने सकलाः विद्याः कलाः च शिक्षताम्, परम् प्रयत्नम् कृत्वा खगवत् विपुलम् आकाशम् प्रयातु (तथापि) कर्मवशतः अभाव्यम् इह न भवति, भाव्यस्य कुतः नाशः?

संस्कृत-व्याख्या—अम्भसि—जले, मज्जतु—मग्नो भवतु, मेरुशिखरं—सुमेरोरग्रभागं, यातु—गच्छतु, आहवे—संग्रामे, शत्रून्—रिपून्, जयतु—पराजितान् करोतु, वाणिज्यं—क्रयविक्रयादिकं, कृषिसेवने—कृषिं क्षेत्रकर्षणं सेवनं भृतिं च, सकलाः—समस्ताः, विद्याः—वेदवेदाङ्गादीः, कलाः—चतुःषष्टिकलाः, च, शिक्षताम्—अभ्यस्यतु, परम्—उत्कृष्टम्, प्रयत्नम्—उद्यमं, कृत्वा—विधाय, खगवत्—पक्षिवत्, विपुलम्—अनन्तम्, आकाशं—गगनम्, प्रयातु—गच्छतु, (तथापि) कर्मवशतः—कर्मानुरोधात्, अभाव्यम्—अभावि, इह—अत्रलोके, न भवति—न जायते, भाव्यस्य—अवश्यम्भाविनः, कुतः—केन प्रकारेण, नाशः—अभावः (स्यात्)?

अनुवाद—चाहे जल में डूबे, चाहे मेरु शिखर पर चढ़ जाय, चाहे संग्राम में शत्रु को जीत ले, चाहे वाणिज्य करे, खेती-चाकरी करे, सब कला और सब विद्या सीखे, बहुत प्रयत्न करके आकाश में चिड़ियों के ऐसा उड़े; चाहे जो करे, पर जो होने वाला नहीं, वह कभी नहीं होगा और जो होनेवाला है वह अवश्य होगा, उसका नाश नहीं हो सकता, वह कभी नहीं रुक सकता।

A man may dive into water, ascend the peak of the Meru Mountain, conquer foes in battle, may learn trade, agriculture, service, and all other arts and sciences, may fly like a bird with great effort through the vast sky: still that, which is not fated to happen shall never happen; how can that be destroyed which is destined to happen in this world (*i. e.* that which is to happen, must happen).

संस्कृत-भावार्थ—मानवः जले निमज्जतु, सुमेरुपर्वतशिखरमारोहतु, शत्रून् जयतु, सकलाः समस्ताः विद्याः अभ्यस्यतु, पादुकासिद्धयादिकं कृत्वा पक्षिवत् आकाशे विहरतु अर्थात् साध्यमसाध्यं वा प्रयत्नं विदधातु, किन्तु कर्मवशात् यद् भाव्यं तदवश्यमेव भविष्यति यच्चाभाव्यं तत् कथमपि न भविष्यति 'यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा' इति न्यायात्।

टिप्पणी—(१) अम्भसि—जल में। अम्भस् शब्द के रूप अम्भः, अम्भसी, अम्भांसि। (२) मज्जतु—डूबे। अर्थात् मोती पाने के लिए समुद्र में गोता लगावे। (३) मेरुशिखरम्—सुमेरु पर्वत की चोटी पर। अर्थात् सोना लाने के लिए सुमेरु पर्वत की चोटी पर चला जाय। (४) आहवे—युद्ध में। आहूयन्ते अन्यः अस्मिन् इति आहवः आ√ह्वे+अप् 'आङि युद्धे' इत्यनेन संप्रसारणम्। (५) वाणिज्यम्—व्यापार। वणिजो भावः कर्म वा वाणिज्यम् वणिज्+ष्यञ्। (६) कृषिसेवने—खेती और नौकरी। कृषिश्च सेवनं च इति कृषिसेवने (द्व० स०)। √कृष्+इन्=कृषिः। (७) विद्याः—चार या चौदह प्रकार की विद्याओं को। 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती' इति कामन्दकः। अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥' (८) कलाः—गीत, वाद्य, नृत्य आदि चौंसठ कलाओं को। (९) कर्मवशतः—प्रारब्ध के अनुसार। कर्मणः वशः (ष० त०), तस्मात्, कर्मवश+तस्। (१०) भाव्यम—जो होना है। √भू+ण्यत्।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

पूर्वजन्मार्जित सुकर्मों से सर्वत्र अनुकूलता प्राप्त होती है—

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं
सर्वो जनः स्वजनतामुपयाति तस्य ।
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥१००॥

अन्वयः—यस्य विपुलम् पूर्वसुकृतम् अस्ति, तस्य भीमम् वनम् प्रधानम् पुरम् भवति, सर्वः जनः तस्य स्वजनताम् उपयाति, कृत्स्ना च भूः (तस्य) सन्निधिरत्नपूर्णा भवति ।

संस्कृत-व्याख्या—यस्य—नरस्य, विपुलं—बहुलं, पूर्वसुकृतं—पुराकृतसत्कर्मजातम्, अस्ति—विद्यते, तस्य—नरस्य, भीमं—भयङ्करं, वनं—काननम्, प्रधानं—मुख्यम्, पुरम्—नगरम्, भवति—जायते, सर्वः—सकलः, जनः—लोकः, तस्य, स्वजनताम्—आत्मीयताम्, उपयाति—गच्छति, कृत्स्ना—सम्पूर्णा, च, भूः—पृथ्वी, (तस्य) सन्निधिरत्नपूर्णा—शोभनैः निधिरत्नैः निधिभिः पद्मशङ्खादिभिः रत्नैः हीरकवैदूर्यादिभिश्च पूर्णा सम्पन्ना भवति ।

अनुवाद—जिस मनुष्य ने पूर्व जन्म में बहुत पुण्य जमा कर रखा है, उसके लिये भयङ्कर वन अच्छा नगर हो जाता है, सब लोग उसके अपने आत्मीय हो जाते हैं, सारी पृथ्वी उसके लिये रत्नों से परिपूर्ण हो जाती है ।

To a man, having immense merit acquired in previous life (lit. previously), a terrible forest becomes a capital city, all people become his own men (friendly to him). and the whole earth becomes full of good gems and fine treasures.

संस्कृत-भावार्थ—येन पूर्वं बहुलानि सुकृतानि कृतानि तेषां फलरूपतया तेन सर्वत्रैव समृद्धिर्लभ्यते, सर्वोऽपि जनस्तस्यानुकूलो भवति, स यत्र कुत्रापि गच्छतु तत्र सुखमेव भवति; अतः श्रेयस्कामैः प्रचुरः पुण्यसंचयः कार्यः ।

टिप्पणी—(१) विपुलम्—प्रचुर (२) पूर्वसुकृतम्—पूर्व जन्म का पुण्य । पूर्वं सुकृतम् (कर्म० स०) । (३) भीमम्—भयानक । बिभेति अस्मात् इति √भी+मक् (उणादि)=भीमम् । तात्पर्य यह है कि भाग्यशाली पुरुष भयंकर

वन में भी नगर के सभी सुखों को प्राप्त कर लेता है। (४) स्वजनताम् उपयाति —आत्मीयता को प्राप्त होते हैं। स्वस्य जनाः (ष० त०) वा स्वे जनाः (कर्म० स०), तेषां भावः स्वजन+तल्+टाप्, ताम्। अर्थात् सभी लोग उस (भाग्यशाली) से मित्र-कुटुम्ब की भाँति व्यवहार करते हैं। (५) कृत्स्ना— सम्पूर्ण। √कृन्+क्स्न (उणादि)+टाप्। (६) सन्निधिरत्नपूर्णा—उत्तम निधियों और रत्नों से भरी। निधयः च रत्नानि च इति निधिरत्नानि (द्व० स०), शोभनानि च तानि निधिरत्नानि इति सन्निधिरत्नानि (कर्म० स०), तैः परिपूर्णा (तृ० त०)।

इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है।

पूर्व सुकृत ही रक्षा करते हैं—

> वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये
> महार्णवे पर्वतमस्तके वा।
> सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा
> रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥१०१॥

अन्वयः—वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके, वा सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा पुराकृतानि पुण्यानि रक्षन्ति।

संस्कृत-व्याख्या—वने—अरण्ये, रणे—संग्रामे, शत्रुजलाग्निमध्ये—शत्रवः रिपवः जलं पानीयम् अग्निः वह्निः च तेषां मध्ये अन्तरे, महार्णवे—महासमुद्रे, पर्वतमस्तके वा—गिरिशिखरे वा, सुप्तं—निद्रितं, प्रमत्तम्—असावधानं, विषमस्थितं वा—निम्नोन्नतभागे विपत्तौ च स्थितं वा, पुराकृतानि—पूर्वजन्मसम्पादितानि, पुण्यानि—सुकृतानि, रक्षन्ति—पालयन्ति।

अनुवाद—रण में, वन में, शत्रुओं के बीच में, जल में, अग्नि में, महासमुद्र में या पर्वत-शिखर पर, चाहे सोया हो या उन्मत्तावस्था में हो, कैसी ही विषम स्थिति में मनुष्य क्यों न हो, परन्तु पूर्व-कृत पुण्य उसको उस हालत में भी रक्षा करते हैं।

Merits acquired in previous life protect man in a forest, in a battle, in the midst of enemy; water and fire or in a big ocean or on the top of a mountain whether he be asleep, intoxicated or placed in danger.

संस्कृत-भावार्थ—वनादिषु भीषणेषु स्थानेषु स्वप्नादिमोहमयावस्थायां च जीवनसंरक्षाया पुरुषाणां पूर्वपुण्यैर्विना न काऽप्यन्यनोऽस्ति ।

टिप्पणी—(१) शत्रुजलाग्निमध्ये—शत्रु, जल या अग्नि के बीच । शत्रव: च जलं च अग्नि: च इति शत्रुजलाग्नय: (द्व० स०), तेषां मध्ये (ष० त०) । (२) महार्णवे—घोर समुद्र में । अर्णांसि जलानि सन्ति अस्मिन् इति अर्णव: अर्णस्+व मनुवर्ये । महान् अर्णव: (कर्म० स०), तस्मिन् । यहाँ सभी सप्तम्यन्त पद में अधिकरणे सप्तमी है । (३) पर्वतमस्तके—पर्वत की चोटी पर । पर्वतस्य मस्तकम् (ष० त०), तस्मिन् । (४) विषमस्थितम्—ऊँचे-नीचे स्थान में या भययुक्त स्थान में पड़े को । विषमे स्थितम् (स० त०) । विषमे=सभयस्थाने इति शंकराचार्य: (गीता २,२ पर शांकर भाष्य) । (५) पुराकृतानि—पूर्व जन्म में किये हुए । पुरा कृतानि (सुप्सुपा स०) । इससे भी सिद्ध होता है कि भर्तृहरि बौद्ध नहीं थे । क्योंकि बौद्ध लोग पूर्वजन्म में विश्वास नहीं करते हैं ।

इस श्लोक में उपजाति छन्द है ।

परिशिष्ट

[नीतिशतक की विभिन्न प्रतियों में उपलब्ध होने वाले विविध विषयक श्लोक]

महान् शत्रु और उत्कृष्ट बन्धु—

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः ।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कृत्वा यं नावसीदति ॥१॥

अन्वय:—हि आलस्यं मनुष्याणां शरीरस्थ: महान् रिपु:, उद्यमसम: बन्धु: न, यं कृत्वा न अवसीदति ।

संस्कृत-व्याख्या—हि—निश्चयेन, आलस्यं—कार्येषु प्रवृत्त्यभाव:, मनुष्याणां—मानवानां, शरीरस्थ:—देहस्थित:, महारिपु:—परम: शत्रु: (अस्ति), उद्यमसम:—उद्योगतुल्य:, बन्धु:—बान्धव:, न (अस्ति), यम्—उद्यमं, कृत्वा—विधाय, (नर:) न अवसीदति—न दु:खं प्राप्नोति ।

अनुवाद—आलस्य मनुष्य के देह में रहने वाला बड़ा भारी शत्रु है । उद्यम के समान मित्र नहीं, उद्यम करने से मनुष्य कभी दु:ख नहीं उठाता, कभी निराश नहीं होता ॥१॥

Idleness is a great enemy dwelling in the body of a man. There is no friend like diligence, doing which a man does not suffer (lit. perish).

संस्कृत-भावार्थ—कार्यविघातकं शत्रुम् इव आलस्यं दूरीकृत्य कार्यसाधकं मित्रमिवोद्योगं कुर्यान्मानवः । किमपि कार्यं कुर्वतश्च नूनं तत्सिद्धेराशा, अकुर्वतस्तु तस्याः सिद्धेः प्रसक्तिरेव नास्ति । अतः आलस्यं विहाय सदा सोद्योगेन भाव्यम् ।

टिप्पणी—(१) **आलस्यम्**—कार्य न करने की प्रवृत्ति, अकर्मण्यता । अलसस्य भावः आलस्यम् अलस+ष्यञ् । (२) **शरीरस्थः**—देह में स्थित । शरीरे तिष्ठतीति शरीर √स्था+क । (३) **उद्यमसमः**—उद्योग के समान । उद्यमेन समः (तृ० त०) । न **अवसीदति**—कष्ट नहीं पाता है । अव √सद्+लट्—तिप्, 'पाघ्राध्मास्था'—इत्यादिसूत्रेण सदः सीदादेशः ।

इसमें अनुष्टुप् छन्द है ।

वीर की महिमा—

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम् ।
क्रियते भास्करेणेव स्फारस्फुरिततेजसा ॥२॥

अन्वयः—महीतलम् एकेन अपि शूरेण पादाक्रान्तं क्रियते स्फारस्फुरिततेजसा भास्करेण इव ।

संस्कृत-व्याख्या—महीतलं—भूतलम्, एकेनापि—अद्वितीयेनापि, शूरेण—वीरेण, पादाक्रान्तं—पादैः चरणैः (सूर्यपक्षे किरणैः) धर्षितं (सूर्यपक्षे व्याप्तं) क्रियते—विधीयते, स्फारस्फुरिततेजसा—स्फारं विस्तीर्णं स्फुरितं देदीप्यमानं तेजः ओजः यस्य तादृशेन, भास्करेण—सूर्येण, इव—यथा ।

अनुवाद—सारा महीतल एक ही वीर से पादाक्रान्त होता है, जिस तरह से अति ज्वल्यमान, अति चमकीले एक ही सूर्य की किरणों से सारा संसार आक्रान्त हो जाता है ।

The entire surface of the earth is trodden under feet by a single handed hero. Just as the world is overflooded with rays by the sun of the profusely glittering light.

संस्कृत-भावार्थ—यथा प्रखरतेजस्वी सूर्यः एकोऽपि निखिलं जगत् स्वकिरणैः व्याप्तं करोति तथैवैकोऽपि शूरः स्वविक्रमेण सकलं जगदाक्रान्तं करोति।

टिप्पणी—(१) महीतलम्—पृथ्वीतल। मह्याः तलम् (ष० त०)। (२) पादाक्रान्तं क्रियते—(शूर-पक्ष में) पैर तले दबाया जाता है। (सूर्य-पक्ष में) किरणों से व्याप्त किया जाता है। पादैः आक्रान्तम् (तृ० त०)। (३) स्फार-स्फुरिततेजसा—अत्यन्त चमकते हुए तेज वाले। स्फारं यथा स्यात् तथा स्फुरितं तेजो यस्य सः (ब० स०), तेन। (४) भास्करेण—सूर्य। भाः करोतीति भास्करः भाः√कृ+ट 'दिवाविभानिशा'—इत्यादिसूत्रेण, 'कस्कादिषु च' इत्यनेन विसर्गस्य सत्वम्।

इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है।

मुंह भरकर सबको वशीभूत किया जा सकता है—

को न याति वशं लोके मुखे पिण्डेन पूरितः।
मृदङ्गो मुखलेपेन करोति मधुरध्वनिम् ॥३॥

अन्वयः—लोके मुखे पिण्डेन पूरितः कः वशं न याति? मृदङ्गः मुखलेपेन मधुरध्वनिं करोति।

संस्कृत-व्याख्या—लोके—संसारे, मुखे—वदने, पिण्डेन—मिष्टान्नादिमधुर-पदार्थेन, पूरितः—संभृतः, कः—जनः, वशम्—अधीनतां, न याति—न गच्छति? मृदङ्गः—मुरजः, मुखलेपेन—मुखे लेपकरणेन, मधुरध्वनिं—मधुरशब्दं, करोति—विदधाति।

अनुवाद—जब किसी का मुंह (पिण्ड से, कुछ खिला-पिला कर) भर दिया जाता है तब कौन मनुष्य वश में नहीं आ जाता? जब मृदङ्ग के मुंह पर (सूर पर) आटा लेप कर बोहन लगा दिया जाता है तो वह बहुत मीठी आवाज करता है।

Who does not submit in the world when his mouth is filled with a ball of rice (*i. e.* when bribed)? A Mridanga makes sweet sound when its face is coated with dough (kneaded flour).

संस्कृत-भावार्थ—यथा मृदङ्गस्य मुखे लेपकरणेन तस्य ध्वनिः अतीव मधुरो भवति तथैव मिष्टान्नादिपदार्थभोजनेन नरः प्रसन्नः अनुकूलश्च भवति।

टिप्पणी—(१) पिण्डेन—मिष्टान्न आदि मधुर पदार्थों से। (२) मुखलेपेन—मुंह पर लेप करने से। मुखे लेपः (स० त०), तेन। (३) मधुरध्वनिम्—मीठी आवाज। मधुरः ध्वनिः (कर्म० म०), तम्।

इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है।

अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल ही वस्तु की कामना करनी चाहिए—

यदि नाम दैवगत्या जगदसरोजं कदाचिदपि जातम्।
अवकरनिकरं विकिरति तत्किं कृकवाकुरिव हंसः ॥४॥

अन्वयः—यदि दैवगत्या जगत् कदाचित् असरोजम् अपि जातं नाम, तत् किं हंसः कृकवाकुः इव अवकरनिकरं विकिरति ?

संस्कृत-व्याख्या—यदि—चेत्, दैवगत्या—संयोगवशात्, जगत्—संसारः, कदाचित्, असरोजं—कमलविहीनम्, अपि, जातं नाम—भवेत्, तत्—तदा, किं, हंसः—मरालः, कृकवाकुः—कुक्कुटः, इव—यथा, अवकरनिकरम्—अवकरस्य गलितमांसस्य निकरं राशिं, विकिरति—उत्खनति खादति वा ?

अनुवाद—यदि संयोगवश संसार कमलविहीन हो जाय तो क्या हंस, मुरगे के जैसा, कूड़े के ढेर को खरोंचेगा ?

If perchance, the world ever becomes devoid of lotuses, would the swan then scratch a heap of sweeping like a cock ?

संस्कृत-भावार्थ—उत्तमो नरः स्वगौरवानुरूपमेव वस्तु कामयते। ईदृशं किमपि वस्तु स कदाचिदपि नाङ्गीकरोति येन तस्य प्रतिष्ठा विनश्येत्। हंसः कमलं खादति। किन्तु यदि कदाचित् स तत् न लभेत तदा किं तदभावे मांसं खादिष्यति ? अपि सः मृतो भवेत् किन्तु मांसं कदापि न खादिष्यति।

टिप्पणी—(१) दैवगत्या—संयोग से। दैवस्य गतिः (ष० त०), तया। (२) असरोजम्—कमल से रहित। नास्ति सरोजं यत्र तत् (न० ब० स०)। (३) अपि—यह संभावनार्थक अव्यय है। 'निन्दासमुच्चयप्रश्नशङ्कासंभावनास्वपि' इत्यमरः। (४) कृकवाकुः—मुरगा। 'कृकवाकुस्ताम्रचूडः कुक्कुटश्चरणायुधः' इत्यमरः। (५) अवकरनिकरम्—कूड़े के ढेर को। अवकीर्यते सम्मार्जन्यादिभिः इति अवकरः अव√कॄ+अप्। नि√कृ+अच् वा अप्=निकरः।

अवकरस्य निकरः (ष० त०), तम् । (६) विकिरति—खरोंचता है या बिखेरता है । वि√कृ (तुदादि)+लट्—तिप्, इत्व।

इस श्लोक में आर्या छन्द है ।

आश्रय एक का ही करना चाहिए—

एको देवः केशवो वा शिवो वा
ह्येकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा
एको वासः पत्तने वा वने वा
एका नारी सुन्दरी वा दरी वा ।।५।।

अन्वयः—एको देवः केशवो वा शिवो वा, एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा, एको वासः पत्तने वा वने वा, एका नारी सुन्दरी वा दरी वा ।

संस्कृत-व्याख्या—एकः—केवलः, देवः—देवता, केशवः—विष्णुः, वा—अथवा, शिवः—शङ्करः, वा, एकं—केवलं, मित्रं—सुहृत्, भूपतिः—राजा, वा—अथवा, यतिः—संन्यासी, वा, एकः, वासः—निवासस्थानं, पत्तने—नगरे, वा, वने—अरण्ये, वा, एका—केवला, नारी—स्त्री, सुन्दरी—रूपवती, वा, दरी—गुहा, वा ।

अनुवाद—हम एक ही देव, कृष्ण या शिव की उपासना करें, हमें एक ही मित्र मिले—राजा या यति; एक ही वास मिले, नगर में या वन में और एक ही स्त्री हो—सुन्दरी या गुहा ।

Let us have one and only one god Kesava or Shiva, only one friend—the king or a hermit; only one abode—in the city or in a forest; one and only one beautiful wife or a cave.

संस्कृत-भावार्थ—मनसः द्वौ भावौ भवतः अनुरक्तिर्विरक्तिश्च । तत्रानुरक्तौ सत्यां देवेषु विष्णुः सेव्यः, भूपतिर्मित्रं कर्तव्यम्, नगरे वासः कर्तव्यः, सुन्दरी रमणी सेव्या । विरक्तौ सत्यां तु महादेवो देवः, यतिर्मित्रं, वने वासः, गुहारूपा स्त्री सेव्या । तदैव कल्याणं भवति ।

टिप्पणी—(१) एकोदेवः—देवता एक (आराधनीय है) । (२) केशवो वा शिवो वा—या तो विष्णु अथवा शिव । (३) यतिः—योगी, संन्यासी ।

(४) पत्तने—नगर, शहर में। (५) दरी—गुफा। 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातविले गुहा' इत्यमरः।

इस श्लोक में शालिनी छन्द है। शालिनी का लक्षण—'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः'।

सत्पुरुषों की बातें कल्याणकारी होती हैं—

परिचरितव्याः सन्तः यद्यपि कथयन्ति नो सदुपदेशम् ।
यास्त्वेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि ॥६॥

अन्वयः—यद्यपि सन्तः सदुपदेशं नो कथयन्ति तथापि ते परिचरितव्याः। एषां या तु स्वैरकथाः ताः एव शास्त्राणि भवन्ति।

संस्कृत-व्याख्या—यद्यपि, सन्तः—सत्पुरुषाः, सदुपदेशं—शोभनां शिक्षां, नो—नहि, कथयन्ति—वदन्ति, तथापि, ते—सन्तः, परिचरितव्याः—सेवितव्याः, एषां—सत्पुरुषाणां, याः, तु, स्वैरकथाः—स्वेच्छया मुखात् निर्गताः वार्ताः, ताः, एव, शास्त्राणि, भवन्ति—जायन्ते।

अनुवाद—यद्यपि सन्त जन उपदेश न भी दें तो भी उनकी सेवा करनी चाहिए। उनके मुंह से जब कुछ बातें निकल पड़ती हैं वे ही शास्त्र हैं अर्थात् शास्त्रोक्त बातें हैं।

Goodmen should be waited upon though they do not give good advice. For what are their random talks. become scriptures, (*i. e.* the teaching of the scriptures).

संस्कृत-भावार्थ—सज्जनानां सम्पर्के निवसन् तेषां शुश्रूषां च कुर्वन् नरः सदैव कल्याणं लभते। सज्जनाः उपदिशेयुः न वा उपदिशेयुः, तेषां मुखात् स्वेच्छया यानि वचांसि निःसरन्ति तानि शास्त्रवचनानीव कल्याणकराणि भवन्ति।

टिप्पणी—(१) सदुपदेशम्—अच्छी सीख। उप√दिश्+घञ् भावे=उपदेशः, सन् उपदेशः सदुपदेशः (कर्म० स०), तम्। (२) परिचरितव्याः—सेवा-शुश्रूषा करने योग्य। परि√चर्+तव्यत्। (३) स्वैरकथाः—स्वेच्छा पूर्वक की गई या मुंह से निकली हुई बातें। ईरणम् ईरः√ईर्+घञ्, स्वस्य ईरः (ष० त०), 'स्वादीरेरिणोः' इति वार्तिकेन वृद्धिसन्धिः, स्वैर+अच् टाप्=स्वैरा। स्वैराः कथाः स्वैरकथाः (कर्म० स०)।

इस श्लोक में आर्या छन्द है ।

शील सब का आभूषण है—

वचो हि सत्यं परमं विभूषणं लज्जाङ्गनायाः कृशता कटौ च।
द्विजस्य विद्यैव पुनस्तथा क्षमा शीलं हि सर्वस्य नरस्य भूषणम्
॥७॥

अन्वयः—सत्यं वचः हि परमं विभूषणम् (अस्ति), लज्जा अङ्गनायाः, कृशता कटौ च, विद्या तथा क्षमा एव पुनः द्विजस्य, शीलं हि सर्वस्य नरस्य भूषणम् (अस्ति) ।

संस्कृत-व्याख्या—सत्यं—यथार्थं, वचः—वचनं, हि, परमं—महत्, विभूषणम्—आभूषणम् (अस्ति), लज्जा—त्रपा, अङ्गनायाः—नार्याः (आभूषणम्), कृशता—क्षीणता, कटौ—मध्यभागे (आभूषणम्), विद्या—वेदादिज्ञानम्, तथा—एवम्, क्षमा—सहनशीलता, एव, पुनः, द्विजस्य—ब्राह्मणस्य (आभूषणम्), शीलं—सदाचारः, हि, सर्वस्य—समस्य, नरस्य—मानवस्य, भूषणम्—आभूषणम् (अस्ति) ।

अनुवाद—सत्य वचन मनुष्य का बड़ा भारी भूषण है, लज्जा स्त्री का, पतलापन कमर का, विद्या और क्षमा भी द्विजों का; सच्चरित्र तो सभी मनुष्यों का आभूषण है ।

True speech is the greatest ornament (for man), bashfulness for a woman slenderness for the waist, learning alone for the twice-born and forgiveness too, in addition. Good conduct is the ornament for all men.

संस्कृत-भावार्थ—संसारे बहुविधानि आभूषणानि सन्ति । कतिचित् केवलं नारीणां कृते सन्ति, कतिचित् केवलं पुरुषाणां कृते सन्ति । एवमेव कानिचिद् आभूषणानि विदुषाम् अन्यानि च तदितरेषां सन्ति । ईदृशं किमपि आभूषणं नास्ति यत् सर्वसामान्यं स्यात् । केवलं शीलमेव ईदृशम् आभूषणम् अस्ति यत् सर्वेषामपि शोभां समानरूपेण वर्धयति । पुरुषः स्यात् नारी वा स्यात्, नहि कमपि भेदं पश्यति । अतः सर्वैरपि सदाचारः रक्षणीयः ।

टिप्पणी—(१) विभूषणम्—अलंकार या शोभा । वि√भूष्+ल्युट् । (२) लज्जा—√लज्ज्+अङ्+टाप् । (३) अङ्गनायाः—नारी का । प्रशस्तानि अङ्गानि यस्याः सा अङ्गना अङ्ग+न+टाप्, तस्याः । (४) कृशता—पतलापन । √कृश्+क्त=कृशः अनुपसर्गात् 'फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' इति सूत्रेण निपातनात् सिद्धिः । कृशस्य भावः कृशता कृश+तल्+टाप् ।

इस श्लोक में उपजाति छन्द है ।

नारी में बहुत-से दुर्गुण होते हैं—

अग्राह्यं हृदयं यथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतं
भावः पर्वतसूक्ष्ममार्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते ।
चित्तं पुष्करपत्रतोयतरलं विद्वद्भिराशंसितं
नारी नाम विषांकुरैरिव लता दोषैः समं वर्धिता ।।८।।

अन्वयः—दर्पणान्तर्गतं वदनं यथैव अग्राह्यम् (तथैव) स्त्रीणां यत् हृदयं (तदपि अग्राह्यम्), पर्वतसूक्ष्ममार्गविषमः भावः न विज्ञायते, चित्तं विद्वद्भिः पुष्करपत्रतोयतरलम् आशंसितम्, नारी विषाङ्कुरैः लता इव दोषैः समं वर्धिता नाम ।

संस्कृत-व्याख्या—दर्पणान्तर्गतं—प्रतिबिम्बितं, वदनं—मुखं, यथैव, अग्राह्यं ग्रहीतुं योग्यं न, (भवति तथैव) स्त्रीणां—नारीणां, यत्, हृदयं—चित्तं, (तदपि अग्राह्यं भवति), पर्वतसूक्ष्ममार्गविषमः—पर्वतीयसूक्ष्ममार्ग इव विषमः दुर्ज्ञेयः, भावः—आन्तरिकः मनोरथः, न विज्ञायते—ज्ञातुं न शक्यते, चित्तं—चेतः, विद्वद्भिः—पण्डितैः, पुष्करपत्रतोयतरलं—पुष्करस्य कमलस्य पत्रं दलं तस्मिन् स्थितं तोयं जलं तदिव तरलं चञ्चलम्, आशंसितं—कथितम्, नारी—स्त्री, विषाङ्कुरैः—विषस्य गरलस्य अंकुराणि कन्दल्यः तैः, लता इव—वल्ली इव, दोषैः—दुर्गुणैः, समं—साकं, वर्धिता—वृद्धिं गता, नाम ।

अनुवाद—जिस तरह दर्पण में प्रतिबिम्बित चेहरे को पकड़ना कठिन है उसी तरह से स्त्रियों के हृदय को भी जानना कठिन है । उनके अन्तःकरण का भाव जानना उतना ही कठिन है जितना पहाड़ पर की पतली राह का पता लगाना ।

उनका चित्त तो विद्वानों द्वारा ऐसा चञ्चल बताया गया है जैसा जल-कण कमल के पत्ते पर चञ्चल रहता है। सचमुच स्त्री दोषों के साथ-साथ बढ़ती हुई उसी तरह भयानक है जिस तरह विषैले अंकुरों के साथ बढ़ती हुई लता होती है।

Like the face reflected in a mirror, the heart of women can not be caught (understood); their feeling (of love), difficult like a narrow track on a mountain cannot be known. Their mind has been described by the learned as fickle like water on a lotus-leaf; a woman, growing with faults, is really like a creeper, growing with its poisonous sprouts.

संस्कृत-भावार्थ—नार्या बहवो दोषा भवन्ति, दोषैरेव सह सा जन्म गृह्णाति, तैरेव समं सा वर्धते, तैरेव समं सा म्रियते। तस्याः मनः चञ्चलम्, भावः दुर्ज्ञेयः, हृदयञ्च अग्राह्यं भवति। विषलता इव सा केवलम् अनर्थाय एव भवति नहि कल्याणाय।

टिप्पणी—(१) दर्पणान्तर्गतम्—शीशे के भीतर प्रविष्ट, दर्पण में प्रतिबिम्बित। दर्पणस्य अन्तर्गतम् (ष० त०)। (२) अग्राह्यम्—जो पकड़ में न आये। √ग्रह्+ण्यत्=ग्राह्यम्, न ग्राह्यम् अग्राह्यम् (न० त०)। (३) पर्वतसूक्ष्ममार्गविषमः—पर्वतीय सूक्ष्म मार्ग की तरह जिसका पता पाना कठिन है। सूक्ष्मः मार्गः (कर्म० स०), पर्वतस्य सूक्ष्ममार्गः (ष० त०), स इव विषमः (उपमित स०)। (४) पुष्करपत्रतोयतरलम्—कमल के पत्ते पर पड़े हुए जल की तरह चंचल। पुष्करस्य पत्रम् (ष० त०), तस्मिन् स्थितं तोयम् (मध्य० स०) तदिव तरलम् (उपमित स०)। (५) आशंसितम्—कहा। आ√शंस्+क्त कर्मणि। (६) दोषैः—दुर्गुणों के साथ।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

परोपकारी ही सत्पुरुष है—

क्षुद्राः सन्ति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः।
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतः पतिं वाडवो
जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये ॥६॥

अन्वयः—सहस्रशः क्षुद्राः सन्ति (ये) स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः, परार्थः एव यस्य स्वार्थः सः एकः पुमान् सताम् अग्रणीः, वाडवः दुष्पूरोदरपूरणाय स्रोतःपतिम् पिबति, जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्सन्तापविच्छित्तये (भवति) ।

संस्कृत-व्याख्या—सहस्रशः—अनेके, क्षुद्राः—अधमाः, सन्ति—विद्यन्ते, (ये) स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः—केवलं स्वपोषणकार्ये एव संलग्नाः (सन्ति) । परार्थः—परहितम्, एव, यस्य—नरस्य, स्वार्थः—स्वहितं, सः—असौ, एकः—एकाकी, पुमान्—पुरुषः, सतां—सज्जनानाम्, अग्रणीः—अग्रगण्यः (अस्ति) । वाडवः—वाडवाग्निः, दुष्पूरोदरपूरणाय—दुष्पूरः दुःखेन पूरयितुं योग्यः उदरः जठरः तस्य पूरणाय पूर्तये, स्रोतःपतिं—समुद्रं, पिबति—शोषयति । जीमूतस्तु—मेघः तु, निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये—निदाघेन ग्रीष्मेण सम्भृतं सन्तप्तं यत् जगत् संसारः तस्य सन्तापः अत्युष्णता तस्य विच्छित्तये विनाशाय (भवति) ।

अनुवाद—हजारों नीच पुरुष हैं जो अपने ही भरण-पोषण में व्यस्त रहते हैं, जो पराये हित को अपना हित समझता है वही एक पुरुष सज्जनों में अग्रगण्य है। वड़वानल अपने कभी नहीं भरने वाले पेट को भरने के लिये नदीपति समुद्र को सोख जाता है, पर मेघ ग्रीष्म के ताप से संतप्त संसार की गरमी को कम करने के वास्ते समुद्र को सोखता है—उससे जल खींच कर वृष्टि करता है ।

There are thousands and thousands of mean-minded fellows busy in supporting themselves. He alone is the foremost among the good who considers other's interests as his own; the submarine fire (वड़वानल) drinks the sea, the lord of streams, to fill its own insatiate maw, but the cloud, (draws water from the ocean) to allay the heat of the world caused by the hot summer.

संस्कृत-भावार्थ—संसारे स्वपोषणकार्ये एव संलग्नाः बहवो जनाः वर्तन्ते, किन्तु सत्पुरुषाः त एव ये परहितभावने निरताः सन्ति । सागरस्य जलं वाडवोऽपि पिबति मेघोऽपि । तत्र मेघः वर्षति, वर्षणेन संसारतापं दूरीकरोति, किन्तु वाडवाग्निः सागरस्य जलमादाय न कस्यापि उपकारं करोति ।

टिप्पणी—(१) सहस्रशः—हजारों । सहस्र+शस् । शस् प्रत्ययान्त शब्द अव्यय हो जाता है। अतएव यह अव्यय है । (२) **स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः**

—अपने भरण-पोषण के कार्य में लगे हुए। स्वस्य भरणम्, तस्य व्यापारः (ष० त०), स एव इति स्वभरणव्यापारमात्रम् (मयूरव्यंसकादित्वात् समासः), तस्मिन् उद्यताः (स० त०)। (३) परार्थः—दूसरे का हित। परेषाम् अर्थः (ष० त०)। (४) दुष्पूरोदरपूरणाय—कभी न भरने वाले पेट को भरने के लिए। दुःखेन पूरयितुं शक्यः दुष्पूरः दुस्√पूर्+खल्। दुष्पूरः उदरः (कर्म० स०), तस्य पूरणम् (ष० त०), तस्मै। (५) जीमूतः—मेघ। 'घनजीमूतमुदिरजलमुग्धूमयोनयः' इत्यमरः। (६) निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये—ग्रीष्म ऋतु के ताप से संतप्त संसार के ताप को मिटाने के लिए। निदाघेन संभृतम् (तृ० त०), तादृशं जगत् (कर्म० स०), तस्य संतापः, तस्य विच्छित्तिः (ष० त०), तस्यै।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

सज्जन स्वीकृत वस्तु का अन्त तक निर्वाह करते हैं—

किं कूर्मस्य भरव्यथा न वपुषि क्ष्मां न क्षिपत्येष यत्
किं वा नास्ति परिश्रमो दिनपतेरास्ते न यन्निश्चलः।
किन्त्वङ्गीकृतमुत्सृजन्स्वमनसा श्लाघ्यो जनो लज्जते
निर्वाहः प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम् ॥१०॥

अन्वयः—यत् एषः क्ष्मा न क्षिपति तत् किं कूर्मस्य वपुषि भरव्यथा न (भवति), यत् निश्चलः न आस्ते तत् किं दिनपतेः परिश्रमः नास्ति, किन्तु श्लाघ्यः जनः अङ्गीकृतम् उत्सृजन् लज्जते, हि प्रतिपन्नवस्तुषु निर्वाहः, एतत् सतां गोत्रव्रतम्।

संस्कृत-व्याख्या—यत्, एषः—अयं कूर्मावतारो विष्णुः, क्ष्मां—पृथ्वीं, न क्षिपति—स्वपृष्ठात् न प्रक्षिपति, तत् किं, कूर्मस्य—कच्छपस्य, वपुषि—शरीरे, भरव्यथा—भरस्य भारस्य व्यथा पीडा, न (भवति), यत् निश्चलः—अचलः, न आस्ते—न तिष्ठति, तत्, किं, दिनपतेः—सूर्यस्य, परिश्रमः—श्रान्तिः, नास्ति—न भवति, किन्तु—परन्तु, श्लाघ्यः—प्रशंसनीयः, जनः—लोकः, अङ्गीकृतं—स्वीकृतं, उत्सृजन्—त्यजन्, लज्जते—जिह्रेति, हि—यतः, प्रतिपन्नवस्तुषु—स्वीकृतपदार्थेषु, निर्वाहः—निर्वहणम्, एतत्, सतां—सज्जनानां, गोत्रव्रतम्—कुलव्रतम् (अस्ति)।

अनुवाद—कच्छप-देव जो पृथ्वी को अपनी पीठ पर से अलग नहीं फेंक देते सो क्या बोझ के मारे उनकी देह में पीड़ा नहीं होती ? सूर्य जो कभी निश्चल हो खड़ा नहीं हो जाते सो क्या उनको कभी थकावट नहीं होती ? सो बात नहीं। बात यह है कि प्रशंसनीय पुरुष अपनी अंगीकृत वस्तुओं को छोड़ने में मन में लजाते हैं; क्योंकि स्वीकृत कामों का अन्त तक निर्वाह करना सज्जनों का कुलव्रत है।

Does the tortoise not feel pain of burden over his body, that he does not throw off the earth, or does not the lord of the day, the sun feel fatigue that he never becomes motionless ! But a praiseworthy man feels ashamed in his mind when going to give up his undertaking; for carrying on to finish things once undertaken is the hereditary vow of the good.

संस्कृत-भावार्थ—सज्जनाः यत् स्वीकुर्वन्ति, तदन्तं यावत् परिपालयन्ति। समागतेष्वपि बहुविधेषु संकटेषु ते तन्न त्यजन्ति। जगतः प्रकाशनं सकृत् स्वीकृत्य निरन्तरं भ्रमणेन श्रान्तोऽपि दिनकरः तन्न त्यजति। एवमेव पृथिव्याः भारं सकृत् स्वपृष्ठोपरि धृत्वा कूर्मः भाराधिक्येन नितरां पीडितोऽपि स्वकर्तव्यमार्गात् लेशमात्रमपि न विचलति।

टिप्पणी—(१) **भरव्यथाम्**—भार के कष्ट को। भरस्य व्यथा (ष० त०), ताम्। (२) **श्लाघ्यः**—प्रशंसनीय। श्लाघितुं योग्यः श्लाघ्यः√श्लाघ्+ण्यत्। (३) **उत्सृजन्**—छोड़ता हुआ। उद्√सृज्+लट्—शतृ। (४) **प्रतिपन्नवस्तुषु**—स्वीकृत वस्तुओं का। प्रति√पद्+क्त कर्मणि=प्रतिपन्न। प्रतिपन्नानि वस्तूनि इति प्रतिपन्नवस्तूनि (कर्म० स०), तेषु। अत्र विषयाधिकरणे सप्तमी। (५) **निर्वाहः**—निवाहना। निर्√वह्+घञ्। (६) **गोत्रव्रतम्**—कुलव्रत।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

मनुष्य रूप में पशु—

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥११॥

अन्वयः—येषां विद्या न, तपो न, दानं न, शीलं न, गुणो न, धर्मः न, ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः (सन्तः) मनुष्यरूपेण मृगाः चरन्ति ।

संस्कृत-व्याख्या—येषां—नराणां, विद्या—वेदादिशास्त्राणां ज्ञानं, न—नहि (विद्यते), तपः—तपस्या, न, दानं—सत्पात्रेषु द्रव्यादिवितरणं, न, शीलं—सद्वृत्तं, न, गुणः—दयादाक्षिण्यादि, न, धर्मः—सुकृतं, न, ते—नराः, मर्त्यलोके—मानवलोके, भुवि—पृथिव्या, भारभूताः—भारस्वरूपाः, (सन्तः) मनुष्यरूपेण—मानवरूपेण, मृगाः—पशवः, चरन्ति—इतस्ततो गच्छन्ति ।

अनुवाद—जिनको न विद्या, न तप, न दान, न ज्ञान, न शील, न गुण और न धर्म है, वे मर्त्यलोक में बोझ हैं, मनुष्य के रूप में पशु चरते हैं।

Those who do not possess learning, penance; charity, knowledge, character, merit or righteousness, roam in this world like beasts in the form of men; a sheer burden to this earth.

संस्कृत-भावार्थ—विद्यातपोदानादिविहीनाः मानवाः पशुतुल्याः सन्ति ।

टिप्पणी—(१) मर्त्यलोके—मनुष्य-लोक में । म्रियन्तेऽत्रेति मर्तो भूलोकस्तत्र भवः मर्त्यः अथवा म्रियते इति√मृ+तन्+यत् स्वार्थे । मर्त्यानां लोकः मर्त्यलोकः, तस्मिन् । (२) भारभूताः—भारस्वरूप । भारेण भूताः तुल्याः इति भारभूताः (सुप्सुपा स०) ।

इस श्लोक में उपजाति छन्द है ।

मूर्खों का संसर्ग त्याज्य है—

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह ।
न मूर्खजनसंपर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥१२॥

अन्वयः—वनचरैः सह पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वरं सुरेन्द्रभवनेषु अपि मूर्खजनसम्पर्कः न (वरम्) ।

संस्कृत-व्याख्या—वनचरैः—वनवासिभिः जनैः, सह—साकं, पर्वतदुर्गेषु—पर्वताः गिरयः दुर्गाणि दुर्गमस्थानानि तेषु, भ्रान्तं—भ्रमणं, वरं—मनाक्प्रियम्, (किन्तु) सुरेन्द्रभवनेषु अपि—देवेन्द्रप्रासादेषु अपि, मूर्खजनसम्पर्कः—दुष्टजनसंसर्गः, न (वरम्) ।

अनुवाद—वनचरों के साथ पर्वतों पर तथा दुर्गम स्थानों में विचरण करना अच्छा है परन्तु मूर्खों के साथ सुरेन्द्र के भवन में भी रहना अच्छा नहीं है।

Better to wander in the fortresses of hills along with the foresters than to dwell in the company of fools in the palaces of the Lord of gods (*i. e.* Indra)

संस्कृत-भावार्थ—पर्वतेषु दुर्गमस्थानेषु च वनचरैः सह वासः कथञ्चिच्छ्रेष्ठः, किन्तु मूर्खैः सह वासः इन्द्रभवनेष्वपि अवाञ्छनीय एव।

टिप्पणी—(१) वनचरैः—वन में घूमने वाले (कोल, भीलों) के साथ। वने चरन्तीति वनचराः वने√चर्+ट, उपपद स०। यहाँ 'वनचर' का अर्थ वन में घूमने वाला प्राणी है न कि वनचर जाति। संज्ञा अर्थ में सप्तमी विभक्ति का अलुक् हो जाएगा। तब 'वनेचरैः' प्रयोग होगा। जैसा कि 'किरातार्जुनीयम्' के प्रथम श्लोक में आया है—'युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः'। (२) मूर्खजनसम्पर्कः—मूर्खों का साथ। मूर्खाः एव जनाः (मयूरव्यंसकादित्वात् रूपकरूप स०), तैः सम्पर्कः (सुप्सुपा स०)। सम्√पृच्+घञ्=सम्पर्कः।

इस श्लोक में अनुष्टुप छन्द है।

भगवत्कृपा का फल—

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः
स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनो निष्क्लेशलेशं मनः।
आकारो रुचिरः, स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं
तुष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरौ संप्राप्यते देहिना ॥१३॥

अन्वयः—विष्टपहारिणीष्टदहरौ तुष्टे देहिना सच्चरितः सूनुः, सती प्रियतमा, प्रसादोन्मुखः स्वामी, स्निग्धं मित्रम्, अवञ्चकः परिजनः, निष्क्लेशलेशं मनः, रुचिरः आकारः, स्थिरः विभवः, विद्यावदातं मुखं सम्प्राप्यते।

संस्कृत-व्याख्या—विष्टपहारिणीष्टदहरौ—विष्टपं जगत् हर्तुं सन्तोषयितुं शीलम् अस्य इति तस्मिन्, इष्टदहरौ—वाञ्छितफलदातरि विष्णौ, तुष्टे—प्रसन्ने (सति), देहिना—मनुष्येण, सच्चरितः—सदाचरणशीलः, सूनुः—पुत्रः, सती—पतिव्रता, प्रियतमा—पत्नी, प्रसादोन्मुखः—सदा प्रसादकर्ता वा प्रसन्नतायां रतः, स्वामी—प्रभुः, स्निग्धं—स्नेहशीलं, मित्रं—सुहृत्, अवञ्चकः—छलरहितः,

परिजनः—परिवारः सेवको वा, निष्क्लेशलेशं—निर्गतः क्लेशलेशः यस्मात् तादृशम् अत्यन्तं दुःखरहितमिति यावत्, मनः—चित्तं, रुचिरः—मनोज्ञः, आकारः—आकृतिः, स्थिरः—स्थायी, विभवः—समृद्धिः, विद्यावदातं—विद्यया ज्ञानेन अवदातं स्वच्छं शुद्धं वा, मुखं—वदनं, सम्प्राप्यते—सम्यक् लभ्यते ।

अनुवाद—सच्चरित पुत्र, सती साध्वी प्रियतमा, प्रसन्न रहने वाला स्वामी, स्नेही मित्र, नहीं ठगने वाला नौकर, चिन्ता-रहित मन, सुन्दर आकृति, चिरस्थायी संपत्ति, विद्या से देदीप्यमान मुख यह सब मनुष्य तभी पाता है जब संसार को संतुष्ट करने वाले, सब कामनाओं को पूरा करने वाले हरि प्रसन्न होते हैं ।

A well-behaved son, a chaste and loving wife: a master ready to favour, an affectionate friend; undeceitful servant; the mind free from the least worry, a handsome form, everabiding prosperity, a face glowing with learning, all these can be obtained by a man if Lord Hari, who fulfils desires (of all) and pleases the world is well propitiated.

संस्कृत-भावार्थ—जगद्धातरि विष्णौ प्रसन्ने सत्येव नरः सदाचारिणं पुत्रं, पतिव्रतां पत्नीं, कृपालुं स्वामिनं, स्नेहशीलं मित्रं, निश्छलं सेवकं, क्लेशरहितं चित्तं, रुचिरामाकृतिं, स्थिरं धनं, ज्ञानभास्वरं मुखं च प्राप्नोति ।

टिप्पणी—(१) विष्टपहारिणि—संसार का वहन करने वाले । विष्टपं हर्तुं शीलं यस्य स विष्टपहारी विष्टप√हृ+णिनि कर्त्तरि ताच्छील्ये, तस्मिन् । (२) इष्टदहरौ—अभीष्टदायक विष्णु के । इष्टं ददातीति इष्टदः इष्ट√दा+क । इष्टदः हरिः इष्टदहरिः (कर्म० स०), तस्मिन् । (३) देहिना—मनुष्य के द्वारा । देहः अस्ति अस्य इति देही देह+इनि, तेन । (४) सच्चरितः—अच्छे चरित्र वाला । सत् चरितं यस्य स सच्चरितः (ब० स०) । (५) प्रसादोन्मुखः—प्रसन्नता व्यक्त करने के लिए उन्मुख या तत्पर । उद्गतं मुखं यस्य स उन्मुखः (ब० स०), प्रसादस्य उन्मुखः प्रसादोन्मुखः (ष० त०) । (६) अवञ्चकः—धोखा न देने वाला । (७) परिजनः—सेवक । (८) निष्क्लेशलेशम्—जिसमें किसी प्रकार का क्लेश न हो, शान्त । निःशेषेण गतः रागद्वेषादिजन्यस्य संसारोत्पन्नस्य वा क्लेशस्य लेशो यस्मात् तत्, निर्गतः क्लेशलेशः यस्मात् तत् (प्रा० ब० स०) । (९) विद्यावदातम्—ज्ञान से निर्मल । विद्यया अवदातम् (तृ० त०) ।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

धन की महिमा—

तानीन्द्रियाणि सकलानि तदेव कर्म
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥१४॥

अन्वय:—सकलानि इन्द्रियाणि तानि एव, कर्म तत् एव, अप्रतिहता सा बुद्धिः, तदेव वचनं तु अर्थोष्मणा विरहितः (सन्) स एव पुरुषः क्षणेन अन्यः भवति इति विचित्रम् (अस्ति) ।

संस्कृत-व्याख्या—सकलानि—समस्तानि, इन्द्रियाणि—करणानि, तानि—प्रसिद्धानि, एव, कर्म—क्रिया, तत् एव—पूर्ववत् एव, अप्रतिहता—अकुण्ठिता. सा—पूर्ववत्, बुद्धिः—प्रज्ञा, तदेव—पूर्ववदेव, वचनं—वाणी, तु—किन्तु, अर्थोष्मणा—अर्थस्य धनस्य ऊष्मणा उष्णतया, विरहितः—हीनः, (सन्) स एव—पूर्वोक्त एव, पुरुषः—नरः, क्षणेन—निमिषमात्रेण, अन्यः—भिन्नः, भवति—जायते, इति एतत्—पूर्वोक्तं सर्वमपि, विचित्रम्—आश्चर्यकरम् (अस्ति) ।

अनुवाद—सब इन्द्रियाँ वही, कर्म वही, अप्रतिहत बुद्धि भी वही, और वचन भी वही रहता है तो भी धन की गर्मी से रहित होने पर वही मनुष्य क्षण भर में ही दूसरा बन जाता है । कैसी विचित्र बात है ।

The senses are the same; the action the same, the same is the unobstructed intellect, the speech also is the same, and yet the self same man, devoid of the warmth of wealth, strange it is, becomes instantly a changed being.

संस्कृत-भावार्थ—इन्द्रियादिषु यथापूर्वं वर्तमानेष्वपि यदि पार्श्वे धनं नास्ति चेत् तर्हि मनुष्यो विचित्रामेव काञ्चिद्दशामनुभवति । तस्मात् पुरुषेण धनमवश्यं सम्पादनीयम् ।

टिप्पणी—(१) सकलानि—सभी । (२) इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ दस हैं, जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—'श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी' । पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं—'पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता' । मन ग्यारहवीं

इन्द्रिय है । इन्द्र+घ 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा' इति सूत्रेण, घस्य इयादेशः । वामन ने इस प्रकार समझाया है—'इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । इन्द्र आत्मा स चक्षुरादिना करणेनानुमीयते । नाकर्तृकं करणमस्ति, इन्द्रेण सृष्टमात्मना सृष्टम् । तत्कृते शुभाशुभकर्मणोत्पन्नमिति कृत्वा । इन्द्रेण जुष्टमात्मना सेवितम् । तद्द्वारेण विज्ञानोत्पादनात् । इन्द्रेण दत्तमात्मना विषयेभ्यो यथायथं ग्रहणाय' । (३) अप्रतिहता—कुंठित न होने वाली । प्रति √हन्+क्त+टाप्, (न० त०) । (४) अर्घोष्मणा विरहितः—घन की गर्मी से रहित ।

इसमें वसन्ततिलका छन्द है ।

महान् व्यक्ति प्रार्थना की प्रतीक्षा नहीं करते—

त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषां न गोचरः ।
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्ति प्रतीक्षसे ॥१५॥

अन्वयः—अम्भोदवर ! त्वम् एव चातकाधारः असि इति केषां न गोचरः ? अस्माकं कार्पण्योक्ति किं प्रतीक्षसे ?

संस्कृत-व्याख्या—अम्भोदवर !—हे मेघश्रेष्ठ !, त्वम् एव—भवानेव, चातकाधारः—चातकानां सारङ्गाणाम् आधारः आश्रयभूतः, असि—वर्तसे, इति—एवं, केषां—जनानां न गोचरः—नहि ज्ञातम् ? (अतः) अस्माकं—नः, कार्पण्योक्ति—दीनतामयीं वाणीं, किं प्रतीक्षसे—कथं श्रोतुमिच्छसीत्यर्थः ?

अनुवाद—हे मेघवर ! कौन नहीं जानता कि तुम चातकों के आधार हो, चातकों को पोसने वाले हो ? तब क्यों तुम हमारी करुण प्रार्थना की प्रतीक्षा करते हो ?

O excellent cloud who does not know that you are the supporter of the Chataka-birds ? Why do you then wait for our pathetic appeal ?

संस्कृत-व्याख्या—जगज्जानाति यत् चातको मेघवृष्टमेव जलं पिबति इति, पुनः मेघेन तत्प्रार्थनायाः प्रतीक्षा किं करणीया ? आश्रयदातृभिः आश्रितानां दीनवचनं कदापि न श्रोतुमभिलषणीयम्, अपि तु सत्वरं तेषामभीष्टं पूरणीयम् ।

टिप्पणी—(१) अम्भोदवर—हे मेघश्रेष्ठ अम्भः ददतीति अम्भोदाः अम्भस् √दा+क, तेषु वरः (स० त०), तत्सम्बुद्धौ । (२) चातकाधारः—पपीहों का अवलम्ब । चातकानाम् आधारः (ष० त०) । (३) केषां न गोचरः—कौन नहीं जानते । (४) कार्पण्योक्तिम्—दीनता से भरी हुई वाणी । कृपणस्य भावः कार्पण्यम् कृपण+ष्यञ्, कार्पण्यपूर्णा उक्तिः (मध्य० स०), ताम् ।

इसमें अनुष्टुप् छन्द है ।

जिस किसी के सामने दीनता प्रकट करना उचित नहीं—

रे रे चातक ! सावधानमनसा मित्र ! क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः ।
केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥१६॥

अन्वयः—रे रे मित्र चातक ! सावधानमनसा क्षणं श्रूयताम्, गगने हि बहवः अम्भोदाः सन्ति, सर्वे अपि एतादृशाः न, केचिद् वृष्टिभिः वसुधाम् आर्द्रयन्ति, केचिद् वृथा गर्जन्ति, यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतः दीनं वचः मा ब्रूहि ।

संस्कृत-व्याख्या—रे रे मित्र चातक—अयि सखे सारङ्ग !, सावधानमनसा—स्वस्थचित्तेन, क्षणं—क्षणमात्रं यावत्, श्रूयताम्—आकर्ण्यताम्, गगने हि—आकाशे हि, बहवः—अनेके, अम्भोदाः—मेघाः, सन्ति—विद्यन्ते, सर्वेऽपि—सकला अपि, एतादृशाः—ईदृशाः (करुणापराः) न—नहि सन्ति, केचिद्—मेघाः, वृष्टिभिः—वर्षाभिः, वसुधां—पृथ्वीम्, आर्द्रयन्ति—क्लेदयन्ति, केचिद्, वृथा—व्यर्थं, गर्जन्ति—महान्तं घोषं कुर्वन्ति, यं यं—कञ्चिन्मेघं, पश्यसि—अवलोकयसि, तस्य तस्य—सर्वस्य मेघस्य, पुरतः—अग्रे, दीनं—कृपणं, वचः—वचनं, मा ब्रूहि—मा वद ।

अनुवाद—रे मित्र चातक ! सावधान मन से मेरी बातें सुनो । आकाश में बहुत से मेघ हैं पर सब ऐसे ही नहीं हैं । कुछ अपनी वृष्टि से पृथ्वी को भिगो देते हैं और कुछ व्यर्थ ही गरजते-तरजते रहते हैं । इसलिये जिस-जिस को देखो उसी के सामने अपना दीन वचन मत बोलो—सभी को अपनी कातरोक्ति मत सुनाओ ।

Hallo friend Chataka ! Listen to me attentively for a . ent. There are numerous clouds in the sky; but all of then not of this type. Some of them (simply) moisten the earth v their showers; while others roar in vain. Therefore, donot utter your piteous cry before each and every one you happen to see.

संस्कृत-व्याख्या—यथा चातकैराकाशे मेघमात्रं दृष्ट्वा जलं न प्रार्थनीयं, यतो केभ्यश्चिन्मेघेभ्यः जलं भवति केचिच्च व्यर्थमेव गर्जनं कुर्वन्ति न तु वर्षणम्, तथैव याचकैरपि धनाशया यः कोऽपि दाता नार्थयितव्यः, परीक्ष्यैव स्वाभिप्रायः प्रकाशनीयः।

टिप्पणी—(१) सावधानमनसा—स्वस्थ चित्त से। अवधानेन सहितं सावधानम् (तुल्ययोगे बहुव्रीहिः), सावधानं मनः (कर्म० स०) तेन। (२) अम्भोदाः—बादल। अम्भस्√दा+क। (३) आर्द्रयन्ति—तर कर देते हैं। आर्द्र+णिच् (नामधातु)+लट्। (४) पुरतः—आगे। पुरा+तस्। यह अव्यय है।

इसमें अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

गुणवान् ही प्रशंसार्ह है—

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनानि ॥१७॥

अन्वयः—तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा किं यत्राश्रिताः तरवः ते एव तरवः (तिष्ठन्ति), मलयमेव मन्यामहे यदाश्रयेण कङ्कोलनिम्बकुटजाः अपि चन्दनानि (भवन्ति)।

संस्कृत-व्याख्या—तेन, हेमगिरिणा—सुमेरुपर्वतेन, रजताद्रिणा—कैलासपर्वतेन, वा, किं—को लाभः ? यत्राश्रिताः यत्र संस्थिताः, तरवः—वृक्षाः, ते एव—पूर्वरूपाः साधारणाः एव, तरवः—वृक्षाः (तिष्ठन्ति), मलयमेव—मलयपर्वतमेव, मन्यामहे—सम्मानदृशा पश्यामः, यदाश्रयेण—यत्प्रदेशावस्थानेन, कङ्कोलनिम्बकुटजाः अपि—कङ्कोलादिनामकाः वृक्षाः, चन्दनानि—चन्दनवृक्षवत् सौगन्ध्ययुक्ताः (भवन्ति)।

अनुवाद—उस स्वर्ण पर्वत से क्या या उस चाँदी के पहाड़ से क्या लाभ जब वहाँ पर के वृक्ष निरे वृक्ष ही बने रहते हैं—जैसे के तैसे ही रह जाते हैं ? हम मलय पर्वत को ही मानते हैं। उसको सराहते है, जहाँ रह कर कंकोल, नीम और अर्जुन वृक्ष भी चन्दन हो जाते हैं।

What is one to do with the mountain of gold or with the mountain of silver, when the trees standing on them remain the same trees as they are; we honour the mountain Malaya alone, growing whereon, even the Kamkola, the neem and the kutaja trees become sandal trees.

संस्कृत-भावार्थ—गुणवद्भिरपि तैः को लाभो यैः स्वाश्रिता गुणवन्तो न कृताः, स तु बहुमानपात्रं येन स्वाश्रिता निर्गुणा अपि गुणवन्तो विहिताः। यथा मलयाचल एवादरणीयो यत्र सर्व एव वृक्षाश्चन्दनत्वं यान्ति सुवर्णमयेन मेरुणा रजतमयेन कैलासेन वा को लाभः यत्र नैकोऽपि तरुः सुवर्णमयो रजतमयो वा जातः।

टिप्पणी—(१) हेमगिरिणा—सुमेरु पर्वत (सोने के पहाड़) से। (२) रजताद्रिणा—कैलास पर्वत (चांदी के पहाड़) से। (३) यत्राश्रिताः—जिस पर स्थित। (४) कङ्कोलनिम्बकुटजाः—कंकोल, नीम और कुटज के वृक्ष। कङ्कोलाश्च निम्बाश्च कुटजाश्च इति कङ्कोलनिम्बकुटजाः (द्व० स०)। (५) चन्दनानि—चन्दन हो जाते हैं अर्थात् चन्दन के समान सुगंधित बन जाते हैं। यहाँ 'चन्दनाः स्युः' पाठभेद मिलता है।

इसमें वसन्ततिलका छन्द है।

सज्जनों का कष्ट अस्थायी होता है—

पातितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः।
प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः ॥१८॥

अन्वयः—कराघातैः पातितः अपि कन्दुकः उत्पतति, एवं प्रायेण साधुवृत्तानां विपत्तयः अस्थायिन्यः।

संस्कृत-व्याख्या—कराघातैः—हस्तप्रताडनैः, पातितः अपि—नीचैः क्षिप्तोऽपि, कन्दुकः—गेन्दुकः, उत्पतति—ऊर्ध्वं गच्छति, एवम्—इत्थं, प्रायेण—बहुशः,

साधुवृत्तानां—सदाचरणानां, विपत्तयः—आपदः, अस्थायिन्यः—क्षणिकाः (भवन्ति)।

अनुवाद—हाथ से मारने से गेंद ऊपर उछलता है। प्रायः साधु पुरुषों की विपत्ति क्षणकालीन होती है—बहुत दिनों तक नहीं रहती।

A ball, struck with the blows of hand, does rebound upwards; generally the misfortunes of the virtuous people are not everlasting.

संस्कृत-भावार्थ—यथा कन्दुकः कराघातैः पातितोऽपि शीघ्रमेव ऊर्ध्वं गच्छति तथैव सज्जनः केनापि कारणेन कष्टमापन्नोऽपि शीघ्रमेव सुखितो भवति अर्थात् किञ्चित्कालपर्यन्तमेव तस्य दुःखं तिष्ठति।

टिप्पणी—(१) कराघातैः—हाथों की चोट से। करस्य आघाताः (ष० त०), तैः। (२) पातितः—गिराया हुआ। √पत्+णिच्+क्त। (३) साधुवृत्तानाम्—सदाचारियों का। साधु वृत्तं येषां ते साधुवृत्ताः (ब० स०), तेषाम्। (४) अस्थायिन्यः—थोड़े समय तक रहने वाली, क्षणिक। √स्था+णिनि, युक् आगम।

इसमें अनुष्टुप् छन्द है।

विचारपूर्वक ही कार्य करना चाहिए—

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी।
तथापि सुधिया भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता ॥१६॥

अन्वयः—(यद्यपि) पुंसां फलं कर्मायत्तं, बुद्धिः कर्मानुसारिणी तथापि सुधिया सुविचार्यैव कुर्वता भाव्यम्।

संस्कृत-व्याख्या—(यद्यपि) पुंसां—पुरुषाणां, फलं—सुखदुःखादि, कर्मायत्तं—प्रारब्धाधीनं, बुद्धिः—प्रज्ञा, कर्मानुसारिणी—कृतस्य कर्मणोऽनुरूपा (भवति) तथापि—एवं सत्यपि, सुधिया—विदुषा, सुविचार्यैव—सुष्ठु चिन्तयित्वैव, कुर्वता—कार्यकारिणा, भाव्यम्—भवितव्यम्।

अनुवाद—मनुष्य जो फल भोगते हैं वह फल उनके कर्म पर निर्भर रहता है—जैसा भाग्य में बदा रहता है, मनुष्य की काम करने की बुद्धि भी वैसी ही

होती है। तो बुद्धिमान् लोगों को चाहिये कि जो कुछ करें, खूब सोच-विचार कर करें।

The fruit men get depends on their actions, and the inducement to action is in accordance with fate(action done in previous life), still a wise man should be doing an action after mature consideration.

संस्कृत-भावार्थ—यद्यपि पूर्वकर्मानुरूपैव बुद्धिः सत्कर्मणि असत्कर्मणि वा प्रवर्तते, तदनुसारमेव च सुखदुःखात्मकं फलं लभ्यते तथापि बुद्धिमता यदपि कर्त्तव्यं तत् सुविचार्यैव।

टिप्पणी—(१) पुंसाम्—लोगों का। (२) कर्मायत्तम्—कर्मों के अधीन। कर्मणाम् आयत्तम् (ष०,त०)। (३) कर्मानुसारिणी—कर्मों के अनुसार चलने वाली। कर्माणि अनुसर्तुं शीलं यस्याः सा कर्मानुसारिणी कर्मन्—अनु√सृ+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये, ङीप्, उपपद स०। (४) सुविचार्य—अच्छी तरह विचार कर। सु—वि√चर्+णिच्+क्त्वा—ल्यप्। (५) भाव्यम्—होना चाहिए।√भू+ण्यत्।

इसमें भी अनुष्टुप् छन्द है।

प्रारब्ध को कोई नहीं मिटा सकता—

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्।
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम्
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः? ॥२०॥

अन्वयः—यदा करीरविटपे पत्रं नैव (तर्हि) वसन्तस्य किं दोषः? यदि दिवा उलूको न अवलोकते (तर्हि) सूर्यस्य किं दूषणम्? (यदि) चातकमुखे धाराः नैव पतन्ति (तर्हि) मेघस्य किं दूषणम्? यत् पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तत् मार्जितुं कः क्षमः?

संस्कृत-व्याख्या—यदा—यदि, करीरविटपे—करीरनामकवृक्षशाखायां, पत्रं—पर्णं, नैव—नहि कदापि भवतीत्यर्थः, (तर्हि) वसन्तस्य—मधुमासस्य, किं दोषः—अपराधः किम्? नास्तीत्यर्थः। यदि—चेत्, दिवा—दिने, उलूकः—दिवान्धः,

न अवलोकते—न पश्यति, (तर्हि) सूर्यस्य—भास्करस्य, किं दूषणम्—दोषः किम् ? नास्त्येवेत्यर्थः। (यदि) चातकमुखे—सारङ्गवदने, धाराः—वृष्टिजल-धाराः, नैव पतन्ति—न गच्छन्ति, (तर्हि) मेघस्य—जलधरस्य, किं दूषणम्—दोषः किम् ? नास्त्येवेत्यर्थः। यत्—यत्किञ्चिदपि, पूर्वं—जन्मकाले, विधिना—ब्रह्मणा, ललाटलिखितं—ललाटे भाले अक्षररूपेण विन्यस्तं, तत्, मार्जितुं—प्रोञ्छितुं, कः क्षमः—कः समर्थः ? नहि कोऽपीत्यर्थः।

अनुवाद—यदि करील के वृक्ष में पत्ता नहीं होता तो वसन्त का इसमें क्या दोष ? यदि दिन में उल्लू नहीं देखता तो इसमें सूर्य का क्या दोष ? यदि जल-धारा चातक के मुंह में नहीं गिरती तो मेघ का इसमें क्या दोष ? विधि ने जो ललाट में पहले ही लिख दिया है उसे कौन मेट सकता है ? "विधि का लिखा को मेटन हारा" तुलसीदास।

What is the fault of Spring, if there is not a single leaf on the branch of the Karira-tree? What is the fault of the Sun if the owl does not see in the day time. What blame on the cloud if the showers do not fall into the mouth of the Chataka bird ? Who is able to wipe out what has been previously written on the forehead by Providence.

संस्कृत-भावार्थ—ब्रह्मणा यस्य भाग्ये यत्किञ्चित् लिखितं स तदेव प्राप्नोति। तत्र किञ्चिदपि परिवर्तनं न भवति। यदि सर्वेष्वपि वृक्षेषु समृद्धिमत्सु सत्सु करीरवृक्षे पत्रं नास्ति तर्हि वसन्तः तत्र किं करोतु ? दिने सर्वतः प्रकाशे प्रसृते यदि उलूकपक्षी नावलोकते तर्हि तत्र सूर्यस्य को दोषः ? सर्वतो जलधाराभिः प्लावितायां भुवि चातकमुखे धाराः न पतन्ति तत्र मेघस्य कोऽपराधः ? एताव-ताऽवगन्तव्यं यद् भाग्ये यन्नास्ति तन्नैव लभ्यते।

टिप्पणी—(१) करीरविटपे—करील के पेड़ की डाल में। (२) चातकमुखे—पपीहे के मुंह में। (३) ललाटलिखितम्—ललाट पर या भाग्य में लिखा हुआ। ललाटे लिखितम् (स० त०)। मार्जितुम्—पोंछने या मिटाने के लिए। √मृज्+तुमुन् 'मृजेर्वृद्धिः' इति सूत्रेण वृद्धिः।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।

अस्मत्कृते च परिशुष्यति काचिदन्या
धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥२१॥

अन्वयः—(अहम्) याम् सततम् चिन्तयामि, सा मयि विरक्ता, सा अन्यम् जनम् इच्छति, अपि जनः स अन्यसक्तः। काचित् अन्या अस्मत्कृते च परिशुष्यति, धिक् ताम् च, तम् च, मदनम् च, इमाम् च, माम् च।

संस्कृत-व्याख्या—(अहम्) यां—रमणीं स्वप्रियतमामिति यावत्, सततं—नित्यं, चिन्तयामि—ध्यायामि, सा—रमणी, मयि, विरक्ता—अनुरागरहिता, अन्यं—मदतिरिक्तं, जनं—पुरुषम् जारमित्यर्थः, इच्छति—वाञ्छति, स जनः अपि—तस्याः जारोऽपि, अन्यसक्तः—अन्यस्यां तदतिरिक्तायां कामुक्यां सक्तः अनुरक्तः। काचित् अन्या—प्रणयिनी वेश्येति यावत्, अस्मत्कृते—मदर्थं, परिशुष्यति—उत्ताम्यति, (अतः) तां च—मत्प्रियतमां च, धिक्—धिक्कारः (अस्तु), तं च—तस्याः हृद्यं जनं च (धिक्), मदनं च—कन्दर्पं च (धिक्), इमां च—वेश्यां च (धिक्), मां च (धिक्)।

अनुवाद—जिस स्त्री की चिंता मैं सदा किया करता हूँ वह मुझसे विरक्त रहती है, वह किसी दूसरे पुरुष को चाहती है, वह पुरुष भी दूसरी स्त्री में प्रेमासक्त है, कोई दूसरी हमारे लिए तड़प रही है; उस स्त्री को धिक्कार, उस पुरुष को धिक्कार, कामदेव को धिक्कार और धिक्कार है इस स्त्री को और मुझको।

She, of whom I constantly think is indifferent to me. She longs for another man, and he, too, is devoted to another woman. Some other woman pines for us. Fie, fie, upon that woman, fie upon him, fie upon Cupid, fie upon this woman, and fie upon me.

संस्कृत-भावार्थ—यां स्त्रीम् अहं सततं मम प्राणप्रियेति विभावयामि सा यथार्थतो मयि विरक्ता अस्ति, यतो हि सा जारं कामयते। सोऽपि पुरुषः तद्भिन्नायां स्त्रियामासक्तः। मां च काचन अन्या रमणी अभिलषति। अतः तां मत्प्रियां धिक्; तस्याः अभीष्टं जनं धिक्; सर्वमिदं मदनकृतमिति तं मदनमपि धिक्; इमां मत्प्रणयिनीं वेश्यामपि धिक्; यतः एवं स्त्रीरूपेण वञ्चितोऽहम् अतः मां च धिक्।

टिप्पणी—(१) सततम्—नित्य, सदा। सम्√तन्+क्त भावे=सततम् वा सन्ततम् 'समो वा हिततयोः' इति कारिकया विकल्पेन समो मस्य लोपः। अत्र क्रियाविपणत्वात् द्वितीया। (२) मयि—मेरे विषय में विरक्त है, यह भाव है। विषयाधिकरणे सप्तमी (३) अन्यसक्तः—दूसरी (स्त्री) में आसक्त। अन्यस्यां सक्तः (स० त०), 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इससे पुंवद्भाव होने के कारण 'अन्या' 'अन्य' में परिणत हो गया। √सञ्ज्+क्त कर्तरि=सक्तः। (३) अस्मत्कृते—हमारे लिए। अस्माकं कृते (प० त०)। (४) परिशुष्यति सूख रही है या काम-सन्तप्त हो रही है। यहाँ 'परितुष्यति' पाठभेद है। अर्थ होगा—सन्तुष्ट हो रही है। (६) तां च तं च मदनं च इमां च मां च—मेरी प्रिया को, उसके जार को, कामदेव को, इस (वेश्या) को और मुझे। यहाँ 'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु। द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इस वार्तिक से 'धिक्' के योग में द्वितीया हुई। यहाँ 'च इमां' में 'आद्गुणः' सूत्र से गुणसन्धि होनी चाहिए, किन्तु 'संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः। नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते॥' इस कारिका के बल से वाक्य में विवक्षाधीन सन्धि होने के कारण यहाँ सन्धि नहीं की गई। आलंकारिकों के मत में यहाँ यह विसन्धिदोष है। मदयति हर्षयति इति मदनः√मद्+णिच्+ल्यु 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' इत्यनेन।

इस श्लोक में वसन्ततिलक छन्द है। 'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः'।

विशेष—किंवदन्ती है कि किसी योगी ने राजा भर्तृहरि को एक जरानाशक फल दिया। राजा ने वह फल अपनी पत्नी को दिया। रानी ने उसे अपने उप-पति को दे दिया। उस पुरुष ने वह फल अपनी प्रेमिका एक वेश्या को दे डाला। उस वेश्या ने भी वह फल राजा को दिया। भर्तृहरि उसे देखकर उसकी खोज-बीन करते हुए परम वैराग्य को प्राप्त हुए। उसके बाद ही वन जाने के इच्छुक भर्तृहरि ने तीनों शतकों की रचना की। यह बात असंगत मालूम होती है कि नीतिशतक के रचयिता कवि अपने गृहच्छिद्र को स्वयं ही प्रकट करे। यह श्लोक नीतिशतक में रखने योग्य भी नहीं है। कई संस्करणों में यह श्लोक नहीं मिलता है। इसको वैराग्यशतक में रखा जा सकता है।

नीतिशतक संबंधी प्रश्न

[निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत पुस्तक के भूमिकाभाग तथा ग्रन्थभाग में मिल जायँगे]

(१) वाह्य साक्ष्य तथा अन्तः साक्ष्य के आधार पर भर्तृहरि का काल निर्धारण कीजिए।

(२) क्या शतक के रचयिता और वाक्यपदीय के रचयिता एक ही व्यक्ति थे? इस पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

(३) भर्तृहरि का इतिवृत्त लिखिए।

(४) नीतिशतक के आधार पर प्रकृति-चित्रण कीजिए।

(५) संक्षेप में नीतिशतक का मूल्यांकन कीजिए।

(६) नीतिशतक की भाषा, अलंकार तथा छन्द पर एक टिप्पणी लिखिए।

(७) निम्नलिखित शीर्षकों पर भर्तृहरि ने अपने क्या विचार प्रकट किये है, वह संक्षेप में बताइए :—(क) मानशौर्यपद्धति, (ख) कर्मपद्धति, (ग) दैव-पद्धति, (घ) अर्थपद्धति, (ङ) विद्वत्पद्धति।

(८) अधोलिखित विषयों पर नीतिशतक से श्लोक उद्धृत कीजिए :— (क) मूर्खों को मार्ग पर लाना कठिन है। (ख) वुद्धि का महत्त्व। (ग) धन की शक्ति।

(९) शतक के आधार पर राजा और कवि की तुलना कीजिए और सेवा-धर्म की कठिनाई पर भर्तृहरि का अभिमत वताइए।

(१०) महापुरुषों के जन्मजात गुण कौन-से हैं? सन्मित्र तथा सत्पुरुष के क्या लक्षण है?

(११) भाग्य के विषय में भर्तृहरि के क्या विचार थे? क्या वे भाग्यवादी थे?

(१२) नीतिशतक में वर्णित विद्वज्जन-महिमा के आधार पर विद्या के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

(१३) चरित्र का भर्तृहरि ने क्या महत्त्व बताया है? राजनीति की अनेक-रूपता पर उनके विचार प्रकट कीजिए :

(१४) विष्णु के दस अवतार कौन-कौन हैं? क्या भर्तृहरि बुद्ध को भी एक अवतार मानते हैं?

(१५) निम्नलिखित सूक्तियों की, प्रसंग निर्देश पूर्वक हिन्दी में व्याख्या कीजिए :—

(क) नहि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम्।

(ख) विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।

(ग) अवस्था वस्तूनि प्रथयति संकोचयति च।

(घ) विभूषणं मौनमपण्डितानाम्।

(ङ) प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते।

(च) सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्।

(छ) कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षकाः न मणयो यैरर्घतः पातिताः।

(ज) सत्संगतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्।

(झ) वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा।

(ञ) सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते।

(ट) सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः।

(ठ) सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

(ड) न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः।

(ढ) प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः।

(ण) मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम्।

(त) न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

(थ) भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैः।

(१६) निम्नलिखित शब्दों की व्युत्पत्ति लिखिए :—

उल्लीढ, आदधान, तनिम्ना, क्षीण, हिंस, गोचर, मुखर, पावक, क्लिन्न, दुर्विदग्ध, चटुल, मनस्वी, कदर्थित, इन्द्रिय, प्रमाणीकृत, द्विजाः, पञ्चषाः, जीवमानः, भागधेयम्, उपस्कृत, संस्कृत, पयोधिः, प्रतिपद्यमान, दैन्य, सहिष्णु, आत्मीय, क्षान्ति, संसर्ग, संघात, मा अवमंस्थाः, विहित, अभ्युदय।

(१७) निम्नलिखित में सन्धि-विच्छेद करते हुए सन्धि के नियमों का निर्देश कीजिए :—

पिबेः ... -नयान्धीलन्, ... ष्योस्तिन्, ... यद्यस्ति, सं. ...

(१८) नि-...

करप्रशानिपुटके । ...नानावम्दमूलफलानितम् । मन्दभाग्यः । ज्ञानलवदुर्विदग्धम् । सम्निधिरत्नपूर्णा । दुर्जनसंकाशात् । हसविवादनिवृत्तः । विवेकभ्रष्टानाम् । अतिरमसकृतानाम् । साहित्यसंगीतकलाविहीनः । अशेषगुणाकरम् । शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः । म्लानेन्द्रियस्य । मधिगम्यरत्नाधानि । भग्नाशस्य । चन्द्रोज्ज्वलाः । शास्त्रोदनरुचिः । ...दर्शनम् । ...वृक्षलता । मदनतिलकपोलमिलितषु ।

(१९) निम्नलिखित हिन्दी को नियमोल्लेखपूर्वक विभक्ति का निर्देश कीजिए :—

तेजसे (श्लोक संख्या १), मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात् (श्लोक सं० ४), निरपमरसप्रीत्या (श्लोक सं० ६), मूर्खस्य (श्लोक सं० ११), भर्तृन्यः (श्लोक सं० १३), कवचेन (श्लोक सं० २०), गन्धः (श्लोक ३१), येन (श्लोक ३२), स्वपात्रपेन (श्लोक सं० ४०), सज्जनसंगतौ (श्लोक सं० ५२), लोकापवादात् (श्लोक सं० ५२), प्राणाघातात् (श्लोक सं० ५५), पृथुतुलनराय (श्लोक सं० ६६), मामासात् (श्लोक सं० ६), येभ्यः (श्लोक सं० ६२)।

(२०) निम्नलिखित श्लोकों की टीका-पद्धति से संस्कृत में व्याख्या कीजिए :—

३, १२, १४, २४, २७, ३१, ३८, ४० ।

(२१) निम्नलिखित श्लोकों का संस्कृत में भावार्थ दीजिए :—

४, ६, १०, १८, २३, २६, ३२, ३६, ४५, ५५, ६०, ६३ ।

(२२) निम्नलिखित श्लोकों का हिन्दी में अनुवाद कीजिए :—

५, ६, १५, १६, ३०, ३६, ४६, ५१, ५८, , ८४, ६०; ६७, १०३, ११५ ।

(२३) नीतिशतक में अन्य ग्रन्थों से उद्धृत श्लोकों को बताइए :—